प्रमेयकण्ठिका

मूल

श्री शान्ति वर्णी

सम्पादन

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, साहित्याचार्य,

जैनदर्शनाचार्य. एम. ए., पी-एच. डो.

वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन

Śrī Śānti Varṇī's
PRAMEYA-KAṆṬHIKĀ
(a compendium of Jaina Logic)
Critically edited by
Dr. Gokul Chandra Jain



प्रकाशक :
मंत्री, वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट,
चमेली-कुटीर,
१।१२८, डुमरांव कॉलोनी, अस्सी
वाराणसी-५ (उ. प्र.)



ट्रस्ट-संस्थापक :
आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'



प्रथम संस्करण : ५०० प्रति
महावीर-जयन्ती, वी. नि. २४९८
२७ मार्च, १९७२



मूल्य : एक रुपया पचास पैसे



मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी-१

प्रकाशकीय

प्रसिद्ध साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वविद् स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' द्वारा संस्थापित एवं प्रवर्तित वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टद्वारा इतः पूर्व आठ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है। यह 'प्रमेयकण्ठिका' उसी क्रममें नववाँ प्रकाशन है।

इसका मूल रूप दो वर्ष पूर्व छप चुका था। किन्तु इसके सम्पादक डॉ. गोकुलचन्द्रजीके वाराणसीसे दिल्ली चले जाने और वहाँ व्यस्त रहनेके कारण शेष प्रस्तावनादि सामग्री यथासमय प्राप्त नहीं हो सकी, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपने 'प्राथमिक' में व्यक्त किया है। अतएव इसके प्रकाशनमें अत्यधिक विलम्ब हुआ है। प्रस्तुत रूपमें इस अप्रकाशित कृतिके उद्धार और प्रथम बार प्रकाशनसे सुज्ञ पाठक प्रसन्न होंगे।

प्रस्तावनामें ग्रन्थ-विषय और ग्रन्थकारपर विचार किया गया है। ग्रन्थकारके व्यक्तित्व, समय, गुरुपरम्परा और उनकी अन्य कृतियोंके, यदि वे उपलब्ध हों, सम्बन्धमें शोधपूर्ण जानकारी अभी अपेक्षित है।

इस कृतिको प्रस्तुत करनेके लिए डॉ. गोकुलचन्द्रजी धन्यवादार्ह हैं।

वाराणसी
चैत्र शुक्ला १३, वी. नि. २४९८

दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट

प्राथमिक

लगभग दो वर्ष पूर्व मैंने सर्वप्रथम प्रमेयकण्ठिकाका सम्पादन किया था। तभी इसका मूल भाग छप भी गया था। इसी बीच मैं वाराणसीसे दिल्ली चला आया और अनेक कारणोंसे प्रस्तावना आदिका कार्य टलता गया। मान्य डॉ. दरबारीलालजी कोठियाने इस विलम्बको अत्यन्त धैर्यके साथ झेला, तदर्थ मैं उनका हृदयसे आभारी हूँ।

प्रस्तावनामें ग्रन्थकी विषय-वस्तुपर विस्तारसे विचार किया गया है, किन्तु पर्याप्त सामग्रीके अभावमें ग्रन्थकार श्री शान्ति वर्णीके समय, व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा तथा अन्य कृतियों आदिके विषयमें विचार नहीं किया जा सका। डॉ. कोठियाजीकी राय है कि शान्ति वर्णीका समय विक्रमकी १५से१८वीं शतीके मध्य होना चाहिए, क्योंकि प्रमेयकण्ठिकामें नव्य नैयायिकोंके विचारोंका समालोचन किया गया है और नव्य न्याय युग १५ से १८ शती है। मैं उनके इस मन्तव्यसे पूर्णतया सहमत हूँ।

प्रस्तुत रूपमें प्रमेयकण्ठिकाको पाठकोंके हाथोंमें सौंपते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। सत्यशासन-परीक्षा, यशस्तिलकका सांस्कृतिक अध्ययन तथा कर्मप्रकृतिके बाद पुस्तकरूपमें यह मेरी चतुर्थ कृति है। आशा है अन्य कृतियोंकी तरह इसका भी विज्ञ जन समुचित मूल्यांकन करेंगे।

दिल्ली
१ मार्च, १९७२

—गोकुलचन्द्र जैन

प्रस्तावना

प्रमेयकण्ठिका जैन न्यायकी एक लघुकाय किन्तु महत्त्वपूर्ण कृति है। माणिक्यनन्दिकृत परीक्षामुखके प्रथम सूत्र "**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**" को आधार बनाकर इसकी रचना की गई है। लेखकने ग्रन्थके मंगलश्लोकमें कहा है कि परीक्षामुखके प्रथम सूत्रका विवेचन कर रहा हूँ। वास्तवमें ग्रन्थमें मात्र इसी सूत्रका विवेचन नहीं है, प्रत्युत प्रमाणशास्त्रके सभी प्रमुख विषयों—प्रमाणका लक्षण, प्रमाणका फल, प्रामाण्य, प्रमाणका विषय, सर्वज्ञत्वविचार आदिका संक्षेपमें सुव्यवस्थित विवेचन किया गया है। जैनन्याय-साहित्यमें इस प्रकारका दूसरा उदाहरण न्यायदीपिका है। धर्मभूषण यतिने तत्त्वार्थसूत्रके "प्रमाणनयैरधिगमः" [१.६] नामक सूत्रको आधार बनाकर इसकी रचना की है तथा संक्षेपमें प्रमाणशास्त्रके सभी विषयोंको समाहित करनेका प्रयत्न किया है।

विषय-विभाग

प्रमेयकण्ठिका पांच स्तबकोंमें विभाजित है। विषय-वस्तुके साथ वे इस प्रकार हैं—

१. प्रथम स्तबकमें प्रमाणका सामान्य लक्षण, प्रमाण और फलका परस्पर सम्बन्ध तथा कथंचित् उनके भेदाभेदका प्रतिपादन किया गया है।

२. द्वितीय स्तबकमें क्रमश: नैयायिक, सांख्य, प्राभाकर, भाट्ट तथा बौद्ध सम्मत प्रमाण-लक्षणोंका विवेचन और उनकी समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

३. तृतीय स्तबकमें प्रामाण्यकी ज्ञप्ति तथा उत्पत्तिके विषयमें दर्श-

नान्तरसम्मत विचारधाराओंकी समीक्षा करके जैन दृष्टिका प्रतिपादन किया गया है।

४. चतुर्थ स्तबकमें बताया गया है कि प्रमाणका विषय सप्तभंगी रूप है। संक्षेपमें इसका विवेचन किया गया है।

५. पांचवें स्तबकमें विस्तारके साथ जगत्कर्तृत्ववादकी समीक्षा करके सर्वज्ञसिद्धिका प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थकारने प्रत्येक स्तबक तथा ग्रन्थके अन्तमें इसका नाम प्रमेयकण्ठिका दिया है। कण्ठिका गलेमें पहननेका एक विशिष्ट आभूषण होता है। जिस प्रकार कण्ठकी शोभा कण्ठिकासे और अधिक बढ़ जाती है, उसी प्रकार प्रमेयकण्ठिकासे प्रमाणशास्त्रकी श्रीवृद्धि होगी। प्रमेयकण्ठिकामें जितना विषय है, उतना तो प्रमाणशास्त्रके अध्येताके गलेमें रखा रहना चाहिए—उसे कण्ठाग्र रहना चाहिए। कण्ठिका समृद्धिकी प्रतीक है, प्रमेयकण्ठिका विद्वत्ताकी।

प्रमेयकण्ठिकाकी भाषा सरल संस्कृत है। पूरे ग्रंथमें मंगलाचरण तथा अन्तके चार पद्योंके अतिरिक्त शेष भाग गद्यमें है। शैली अन्य न्यायग्रन्थों जैसी होते हुए भी सरस और प्रवाहमयी है। ग्रन्थकारने न्याय जैसे दुरूह विषयको भी हृदयग्राही शैलीमें प्रस्तुत किया है।

सम्पादन-परिचय

प्रयेयकण्ठिकाका यह संस्करण निम्नलिखित दो हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर तैयार किया गया है—

अ—यह प्रति श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) की है। इसमें सफेद कागज पर लिखे ८½″ × ६½″ आकार के ३८ पत्र हैं।[१]

---

१. इसी प्रकारके कागजपर लिखे किसी अन्य न्यायग्रन्थके आठ पत्र भी इसी बस्तेमें भूलसे रख दिये गये लगते हैं, जिन्हें इसी ग्रन्थका समझ लिया गया।

प्रत्येक पत्रमें दोनों ओर मिलाकर २२ पंक्तियाँ तथा प्रति पंक्ति २१ अक्षर हैं। प्रतिलिपिकारने प्रतिलिपि करनेका विवरण इस प्रकार दिया है—

"क्रोधनसंवत्सरे माघमासे कृष्णचतुर्दश्यां विजयचन्द्रेण जैनक्षत्रियेण श्रीशान्तिवर्णिविरचिता प्रमेयकण्ठिका लिखित्वा समापिता। भद्रं भूयात्। वर्धतां जिनशासनम्॥"

यह प्रतिलिपि किस मूल प्रतिसे की गयी है, इसकी जानकारी न तो इस प्रतिलिपिसे प्राप्त होती है और न ही किसी अन्य स्रोतसे पता लग सका। अक्षरोंकी बनावट साधारणतया स्पष्ट होते हुए भी ग्रन्थ बहुत अशुद्ध है। प्रस्तुत संस्करणमें इस प्रतिके पाठान्तर अ संकेतके साथ पाद-टिप्पणीमें दिये गए हैं।

ब–यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन, ब्यावर (राजस्थान) की है। इसमें ११½" × ६½" आकारके सफेद कागज पर लिखे १८ पत्र हैं। पहला पत्र एक ओर लिखा गया है। शेष प्रत्येक पत्रमें दोनों ओर मिला कर २२ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्तिमें लगभग पचास अक्षर हैं। प्रतिलिपिका विवरण इस प्रकार दिया है—

"मिति पौष सुदी १२ संवत् १९९१ ह० पं० ठाकुरदास चौबे मुकाम चन्देरी।"

यह प्रतिलिपि किस मूल प्रतिसे की गयी है, इसका भी पता नहीं चलता। आराकी प्रतिकी अपेक्षा यह शुद्ध है, किन्तु पूर्णरूपसे शुद्ध नहीं है। इस प्रतिके पाठान्तर ब संकेतके साथ पाद-टिप्पणमें दिये गए हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रतियोंके आधारपर पाठ संशोधन किया गया है। यदि अधिक प्राचीन और शुद्ध प्रति उपलब्ध होती तो सम्पादनमें विशेष उपयोगी होती। इन दोनों प्रतिलिपियोंके तुलनात्मक अध्ययनसे प्रतीत होता है कि प्रतिलिपियाँ अलग-अलग मूल प्रतियोंसे की गयी हैं। आरा-

के लक्षणमें मुख्यतया निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. कारणदोषके निवारण द्वारा कारणशुद्धिकी सूचना।

२. विषयबोधक अर्थपदका लक्षणमें प्रवेश।

मीमांसक

प्रभाकर और उनके मतानुयायी मीमांसक विद्वानोंने अनुभूतिको प्रमाण माना है—

"अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।" —बृहती १.१.५

कुमारिल तथा उनकी परम्परा वाले अन्य मीमांसकोंने यह लक्षण माना है—

"औत्पत्तिकगिरा दोषः कारणस्य निवार्यते।
अबाधो व्यतिरेकेण स्वतस्तेन प्रमाणता॥
सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा।"

—श्लोकवा० औत्प० श्लो० १०-११

मीमांसकोंकी इस परम्परामें न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों परंपराओंका संग्रह हो जाता है। 'अदृष्टकारणारब्ध' विशेषणसे कणादकथित कारणदोषका निवारण हो जाता है तथा 'निर्बाधत्व' एवं 'अपूर्वार्थत्व' विशेषणके द्वारा बौद्ध परम्पराका भी समावेश हो जाता है—

"एतच्च विशेषणत्रयमुपाददानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम्॥"

—शास्त्रदीपि० पृ० १२३

कुमारिलकर्तृक माने गये निम्नलिखित श्लोकसे यह और भी स्पष्ट हो जाता है—

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥"

इस लक्षणमें प्रमाणसामान्यलक्षणके ऐतिहासिक विकासकी

दृष्टिसे अनधिगत बोधक 'अपूर्व' पदका समावेश प्रमाणलक्षणमें देखा जाता है।

बौद्ध

दिङ्नागने प्रमाणका लक्षण इस प्रकार दिया है—

"स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥" —प्रमाणस० १.१०

इस लक्षणमें 'स्वसंवित्ति' पदका फलके विशेषणरूपमें निवेश किया गया है।

धर्मकीर्तिने प्रमाणलक्षण इस प्रकार दिया है—

"प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितेः।
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ॥"

—प्रमाणवा० २.१.

इस लक्षणमें धर्मकीर्तिने 'अविसंवादित्व' विशेषणका निवेश किया है। यह वात्स्यायनके 'प्रवृत्तिसामर्थ्य' तथा कुमारिलके 'निर्बाधत्व' विशेषणका पर्याय समझना चाहिए।

न्यायबिन्दु (१,२०) में धर्मकीर्तिने दिङ्नागके अर्थ-सारूप्यका ही निर्देश किया है।

शान्तरक्षितके लक्षणमें दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनोंके आशय का संग्रह देखा जाता है।

"विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥"

—तत्त्वसं० का० १३४४

बौद्ध परम्पराके इस प्रमाणलक्षणमें 'स्वसंवेदन' के विचारका प्रवेश हुआ तथा उसके द्वारा ज्ञानमें 'स्वपरप्रकाशत्व' को सूचित किया गया।

असंग और वसुबन्धुने विज्ञानवाद स्थापित किया, पर दिङ्नागने उसका जोरोंसे समर्थन किया। इस स्थापना और समर्थनपद्धतिमें स्वसंविदितत्व या स्वप्रकाशत्वका सिद्धान्त स्फुटतर हुआ, जिसका किसी-न-किसी रूपमें अन्य दार्शनिकोंपर भी प्रभाव पड़ा।

जैन

जैन परम्परामें प्रमाणसामान्यके लक्षणका विकास निम्नलिखित रूपमें देखा जाता है—

१. समन्तभद्र

"तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।"

—आप्तमी० १०१

"स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।"

—बृहत् स्व० ६३

२. सिद्धसेन

"प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्॥" —न्यायावता० १

३. अकलंक

"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्॥"

—अष्टश० अष्टस० पृ० १७५

४. माणिक्यनन्दि

"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।" —परीक्षा० १.१

५. विद्यानन्द

"तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥"

—तत्त्वार्थश्लो० १.१०.७७;—प्रमाणपरी० पृ० ५३

६. अभयदेव

"प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।"

—सन्मतिटी० पृ० ५१८

७. देवसूरि

"स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्" —प्रमाणनय० १.२

८. हेमचन्द्र

"सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।" —प्रमाणमी० १.२

९. धर्मभूषण

"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् ।" —न्यायदी० पृ० १

जैन सम्मत प्रमाणलक्षणका विकास

प्रमाणके उपर्युक्त लक्षणोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र ने सभी जैन-जैनेतर प्रमाणलक्षणोंको ध्यानमें रखकर अपना प्रमाण-लक्षण निश्चित किया है। इसमें पूर्वाचार्योके स्वपदको सर्वथा अलग कर दिया गया है तथा 'अवभास', 'व्यवसाय' आदि पदोंके स्थानपर 'निर्णय' पद रखा है एवं उमास्वामि, धर्मकीर्ति तथा भासर्वज्ञके सम्यक् पदको ग्रहण किया है।

धर्मभूषणने सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण कहा, क्योंकि वही सम्यग् अर्थ-का निर्णायक है।

इस प्रकार प्रमाणके लक्षणमें शाब्दिक अन्तर रहते हुए भी अर्थरूप में विशेष अन्तर नहीं है, प्रत्युत लक्षणोंका क्रमिक विकास-विचारका द्योतक है।

भारतीय दर्शन-शास्त्रमें प्रमाण

प्रमाणलक्षणके इस ऐतिहासिक विकासक्रमको देखनेके उपरान्त वैचारिक दृष्टिसे भी इसका पर्यालोचन अपेक्षित है।

प्रमाणके उक्त लक्षणोंसे ज्ञात होता है कि भारतीय प्रमाणशास्त्र में मुख्यरूपसे दो दृष्टियाँ रही हैं—

१. ज्ञानको प्रमाण मानने वाली।

२. इन्द्रिय आदिको प्रमाण मानने वाली।

जैन और बौद्ध परम्परामें ज्ञानको प्रमाण माना गया है। दोनोंमें अन्तर यह है कि जैन सविकल्पक ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञानको। इन मान्यताओंकी पृष्ठभूमिमें दोनों परम्पराओंका सैद्धान्तिक चिन्तन विद्यमान है। जैनोंकी मान्यता है कि निर्विकल्पक ज्ञान अर्थका निश्चायक नहीं हो सकता। बौद्ध ज्ञानको क्षणिक मानते हैं। इसलिए उनके यहाँ सविकल्पक ज्ञान नहीं बनता।

दूसरी परम्परा वैदिक दर्शनोंकी है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक सभी किसी-न-किसी रूपमें इन्द्रियादिको प्रमाण मानते हैं। इसका भी कारण उनकी सैद्धान्तिक चिन्तन-परम्परा है। वैदिक दर्शनोंमें ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। ऐसी स्थितिमें इन्द्रियादिककी प्रमाणता अपेक्षित है।

चार्वाक आत्मतत्त्वको ही नहीं मानता। इसलिए उसे इन्द्रियज्ञानको ही प्रमाण मानना अनिवार्य है।

चिन्तनकी इन दो विरोधी दृष्टियोंका प्रभाव प्रमाणकी परिभाषा उसके भेद तथा प्रामाण्य आदिके निर्धारण पर पड़ा है। उसीका परिणाम है कि प्रारम्भसे अन्ततक यह दृष्टि-भेद सर्वत्र उपलब्ध होता है।

नैयायिकोंका सन्निकर्षवाद

नैयायिक इन्द्रियसन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं। वात्स्यायनने न्याय भाष्यमें प्रत्यक्षकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा, यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षा-बुद्धयः फलम्।" —न्यायभा० १. १. ३

उद्योतकरने भी न्यायवार्तिकमें वात्स्यायनके भाष्यका अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनोंको प्रत्यक्ष प्रमाण मान कर इसका प्रबल समर्थन किया है।

न्यायसूत्रकी व्याख्यामें वाचस्पतिका भी वही तात्पर्य है—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" —न्याय० १. १. ४

न्यायभाष्य (पृष्ठ २५५) तथा न्यायमंजरी (पृ० ७३, ४७९) में इसका विस्तृत विवेचन है ।

सन्निकर्षवादी नैयायिकोंका कहना है कि अर्थका ज्ञान करानेमें सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है । चक्षुका घटके साथ सन्निकर्ष होने पर घटका ज्ञान होता है । जिस अर्थका इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष नहीं होता, उसका ज्ञान भी नहीं होता । यदि इन्द्रियोंसे असन्निकृष्ट अर्थका भी ज्ञान माना जाएगा, तो सबको सब पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिए । किन्तु देखा जाता है कि जो पदार्थ दृष्टिसे ओझल होते हैं, उनका ज्ञान नहीं होता ।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय कारक हैं, और कारक दूर रह कर अपना काम नहीं कर सकता । अतएव यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय जिस पदार्थसे सम्बन्ध नहीं करती, उसे नहीं जानती, क्योंकि वह कारक है, जैसे बढ़ईका बसूला लकड़ीसे दूर रहकर अपना काम नहीं करता । जिस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पदार्थसे संस्पृष्ट होकर जानती है । उसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी पदार्थ संस्पृष्ट होकर जानती हैं ।

सन्निकर्षकी प्रवृत्ति-प्रक्रिया (न्यायमं० पृ० ७४)

प्रत्यक्षज्ञान चार, तीन अथवा दोके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है । बाह्य रूप आदिका प्रत्यक्ष चारके सन्निकर्षसे होता है । आत्मा मनसे सम्बन्ध करता है, मन इन्द्रियसे, इन्द्रिय अर्थसे । सुखादिका प्रत्यक्ष तीनके सन्निकर्षसे होता है । इसमें इन्द्रिय काम नहीं करती । योगियों-को जो आत्माका प्रत्यक्ष होता है, वह केवल आत्मा और मनके सन्नि-कर्षसे होता है ।

सन्निकर्षवादकी समीक्षा

नैयायिकोंके इस लक्षणका निरास जैन तार्किकोंने विस्तारके साथ

किया है (न्यायकुमु० पृ० २५-३२, प्रमेयक० पृ० १४-१८)। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

१. वस्तुका ज्ञान करानेमें सन्निकर्ष साधकतम नहीं है, इसलिए वह प्रमाण नहीं है। जिसके होने पर ज्ञान हो, नहीं होने पर न हो, वह उसमें साधकतम माना जाता है। सन्निकर्षमें यह बात नहीं है। कहीं-कहीं सन्निकर्षके होने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे घटकी तरह आकाश आदिके साथ भी चक्षुका सन्निकर्ष रहता है, फिर भी, आकाशका ज्ञान नहीं होता। अतएव सनिकर्ष प्रमाण नहीं है।

२. सभी इन्द्रियाँ छूकर जानती हों, यह बात नहीं है। चक्षु छूकर नहीं जानती। यह छूकर जानती, तो आँखमें लगे हुए अंजनको देखना चाहिए, किन्तु नहीं देखती। इसी प्रकार यदि छूकर जानती तो ढकी हुई वस्तुको नहीं जानना चाहिए, पर ऐसा नही है। काँच आदि पारदर्शी द्रव्यसे ढँकी हुई वस्तुको वह जान लेती है। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नहीं है। जैन दार्शनिकोंने चक्षुके प्राप्यकारित्वका विस्तारसे खण्डन किया है (तत्त्वा० रा० वा० पृ० ४८, न्यायकु० पृ० ७५-८२, प्रमेयक० पृ० २२०–२२१)।

३. सन्निकर्षको प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि सर्वज्ञ सन्निकर्ष द्वारा पदार्थोंको जानेगा, तो उसका ज्ञान या तो मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य। मन और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति अपने विषयोंमें क्रमशः होती है, तथा उनका विषय भी नियत है, जब कि त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थोंका अन्त नहीं है। सूक्ष्म, अन्तरित तथा व्यवहित पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः उनका ज्ञान भी नही होगा। इस तरह सर्वज्ञका अभाव हो जाएगा (सर्वार्थ० पृ० ५७, तत्त्वा० पृ० ३६, न्यायकु० पृ० ३२)।

उपर्युक्त दोषोंके कारण इन्द्रियादिके सन्निकर्षको प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जरन्नैयायिकोंका कारकसाकल्यवाद

जरन्नैयायिकोंकी मान्यता है कि अर्थका ज्ञान किसी एक कारकसे नहीं होता, प्रत्युत कारकोंके समूहसे होता है। एक-दो कारकोंके होने पर भी ज्ञान उत्पन्न नही होता और समग्र कारकोंके रहने पर नियम से होता है। इसलिए कारकसाकल्य ही ज्ञानकी उत्पत्तिमें साधकतम कारण है। अतएव वही प्रमाण है। ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो फल है। फलको प्रमाण मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण और फल भिन्न-भिन्न होते हैं। न्यायमंजरीकारने लिखा है—

"अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।" —न्यायमंजरी पृ० १२

कारकसाकल्यवादकी समीक्षा

कारकसाकल्यकी उपयोगिताको स्वीकारते हुए भी जैन दार्शनिकों ने विशेषरूपसे इसका खण्डन किया है (न्यायकुमु० पृ० ३५-३९, प्रमेय-कमल० पृ० ७-१३)। उनका कहना है—

१. कारकसाकल्य ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण अवश्य हैं, पर अर्थोपलब्धिमें तो ज्ञान ही कारण है। इसलिए कारकसाकल्यको अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण नहीं माना जा सकता।

२. यदि परम्परा-कारणोंको अर्थोपलब्धिमें साधकतम कारण माना जाएगा तो जिस आहार या गायके दूधसे इन्द्रियोंको पुष्टि मिलती है, उस आहार तथा दूध देने वाली गायको भी साधकतम कारण मानना होगा। इस तरह कारणोंका कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जायेगा।

सांख्यका इन्द्रियवृत्तिवाद

सांख्योंकी मान्यता है कि अर्थकी प्रमितिमें इन्द्रियवृत्ति ही साधक-तम है, अतः उसीको प्रमाण मानना चाहिए। इन्द्रियाँ जब विषयके आकार परिणमन करती हैं तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द आदिका

ज्ञान कराती हैं। इस प्रकार पदार्थका सम्पर्क होनेसे पहले इन्द्रियोंका विषयाकार होना इन्द्रियवृत्ति है। वही प्रमाण है। योगदर्शन-व्यासभाष्य में लिखा है—

"इन्द्रियप्रणालिकया बाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्।" —योगद० व्यासभा० पृ० २७

इन्द्रियवृत्तिकी प्रक्रियाके विषयमें सांख्यप्रवचनभाष्यकारने लिखा है—

"अत्रेयं प्रक्रिया—इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिंगज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते।" —सांख्यप्र० भा० पृ० ४७

इन्द्रियवृत्तिकी समीक्षा

बौद्ध, जैन तथा नैयायिक तार्किकोंने सांख्योंका खण्डन किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नागने प्रमाणसमुच्चय (१. २७) में, नैयायिक उद्योतकरने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) में, जयन्तभट्टने न्यायमंजरी (पृ० १०९) में तथा जैन तार्किक अकलंकने न्यायविनिश्चय (१. १६५) में, विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८७) में, प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४०-४१) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १९) में देवसूरिने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७२) में, तथा हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसा (पृ० २४) में इन्द्रियवृत्तिका विस्तारसे निरास किया है। जिसका संक्षिप्त सार यह है—

१. इन्द्रियवृत्ति अचेतन हैं, इसलिए वह पदार्थको जाननेमें साधकतम नहीं हो सकती।

२. इन्द्रियोंका पदार्थके आकार होना प्रतीतिविरुद्ध है। जैसे दर्पण पदार्थके आकारको अपनेमें धारण करता है वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियां पदार्थके आकारको अपनेमें धारण करती नहीं देखी जाती।

३. इन्द्रियवृत्ति यदि इन्द्रियोंसे भिन्न है तो उसका इन्द्रियोंसे संबंध

नहीं बनता और यदि अभिन्न है तो सुप्तावस्थामें भी इन्द्रिय व्यापार जारी रहना चाहिए।

इन कारणोंसे इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं है।

मीमांसकोंका ज्ञातृव्यापार

मीमांसक ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञातृव्यापारके बिना पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमें क्रिया होती है। आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थका मेल होने पर ज्ञाताका व्यापार होता है और वह व्यापार ही पदार्थका ज्ञान करानेमें कारण होता है। अतः ज्ञाताका व्यापार ही प्रमाण है (मीमांसा श्लो० पृ० १५१, शास्त्रदी० पृ० २०२)।

ज्ञातृव्यापारवादकी समीक्षा

मीमांसकोंकी इस मान्यताका खण्डन वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी तार्किकोंने किया है। वैदिक परम्परामें उद्योतकरने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) में वाचस्पतिने तात्पर्यटीका (पृ० १५५) में तथा जयन्तभट्टने न्यायमंजरी (पृ० १००) में विस्तारसे खण्डन किया है। बौद्ध दार्शनिकोंमें सर्वप्रथम दिङ्नागने अपने प्रमाणसमुच्चय (१. ३७) में इसका खण्डन किया है। शान्तरक्षित आदिने इसी पद्धतिका अनुसरण किया है।

जैन परम्परामें अकलंक, विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७, श्लो० ३७), प्रभाचन्द्र (न्यायकु० पृ० ४२-४५, प्रमेय० पृ० २०-२५), अभयदेव (सन्मति० पृ० ५३३,) हेमचन्द्र (प्रमाणमी० पृ० २३) तथा देवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३२१)में ज्ञातृव्यापारका विस्तारसे खण्डन किया है। जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है--

१. ज्ञातृव्यापार किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसलिए वह प्रमाण नहीं है।

२. प्रत्यक्षप्रमाणसे ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि न तो

ज्ञातृव्यापारका सम्बन्ध है और न मीमांसक स्वसंवेदनको मानते हैं।

३. अनुमानप्रमाणसे भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें साधनसे साध्यका ज्ञानरूप अनुमान नहीं बनता।

४. अर्थापत्तिसे भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अर्थापत्ति-के उत्थापक अर्थका साध्यके साथ सम्बन्ध नहीं बनता।

५. प्रमाणोंसे सिद्ध न होने पर भी ज्ञातृव्यापारका अस्तित्व मानना उपयुक्त नहीं है।

बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण

बौद्ध न्यायशास्त्रमें प्रत्यक्ष-लक्षणकी दो परम्पराएँ देखी जाती हैं—पहली अभ्रान्तपदरहित और दूसरी अभ्रान्तपदसहित। पहली परम्परा के पुरस्कर्ता दिङ्नाग हैं तथा दूसरीके धर्मकीर्ति। प्रमाणसमुच्चय (१.३) और न्यायप्रवेश (पृ० ७) में पहली परम्पराके अनुसार लक्षण और व्याख्या है। न्यायबिन्दु (१.४) और उसकी धर्मोत्तरीय वृत्ति॰आदिमें दूसरी परम्पराके अनुसार लक्षण एवं व्याख्यान है। शान्तरक्षितने तत्त्व-संग्रह (का० १२१४) में दूसरी परम्पराका ही समर्थन किया है। धर्म-कीर्तिका लक्षण इस प्रकार है—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।"–न्यायवि० १.४.

निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष

अभ्रान्तपदका ग्रहण या अग्रहण करने वाली दोनों परम्पराओंमें प्रत्यक्षको निर्विकल्प माना गया है। बौद्धोंका कहना है कि प्रत्यक्षमें शब्द-संसृष्ट अर्थका ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षका विषय स्व-लक्षण है और वह क्षणिक है। इसलिए प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्प ही होता है।

क्षणभंगवाद

बौद्धोंकी इस मान्यताकी पृष्ठभूमिमें उनका दार्शनिक सिद्धान्त क्षणभंगवाद है। "सर्वं क्षणिकम्"—सब कुछ क्षणिक है—इस सिद्धान्त

के अनुसार प्रत्यक्ष जिस स्वलक्षणको ग्रहण करता है, उसमें कल्पना उत्पन्न हो, इसके पूर्व ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए वह सविकल्पक नहीं हो सकता।

इन्द्रियज्ञानमें तदाकारताका अभाव

बौद्धोंका कहना है कि अर्थमें शब्दोंका रहना सम्भव नहीं है और न अर्थ तथा शब्दका तादात्म्य सम्बन्ध ही है। इसलिए अर्थसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको उत्पन्न न करने वाले शब्दके आकारका संसर्ग नहीं रह सकता। क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता वह आकारको धारण नहीं कर सकता। जैसे रससे उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने अजनक रूप आदिके आकारको धारण नहीं करता। इन्द्रियज्ञान केवल नील आदि अर्थमें उत्पन्न होता है, शब्दसे उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह शब्दके आकारको धारण न करनेके कारण वह शब्दग्राही नहीं हो सकता। जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं हो सकता। अतएव निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।

निर्विकल्पक ज्ञान और लोक-व्यवहार

निर्विकल्पक ज्ञानमें सविकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्ति है। अतः वह उसके द्वारा समस्त व्यवहारोंमें कारण होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके विषयको लेकर ही पीछेके विकल्प उत्पन्न होते हैं। इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बौद्धोंके लक्षणकी समीक्षा

बौद्धोंकी इस मान्यताका बौद्धेतर तर्कग्रन्थोंमें विस्तारसे खण्डन किया गया है। भामहके काव्यालंकार (५. ६. पृ० ३२) और उद्योतकरके न्यायवार्तिक (१. १. ४ पृ० ४१) में दिङ्नागके प्रत्यक्षलक्षण तथा वाचस्पतिमिश्रकी तात्पर्यटीका (पृ० १५४) जयन्तभट्टकी न्यायमंजरी (पृ० ५२), श्रीधरकी न्यायकन्दली (पृ० १९०) और शालिक-

नाथको प्रकरणपरीक्षा (पृ० ४०) में धर्मकीर्तिके प्रत्यक्ष-लक्षणकी समीक्षा की गयी है।

जैन दार्शनिकोंने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनोंके लक्षणकी समीक्षा की है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८५), प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४७) तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४९) में एवं हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसा (पृ० २३) में निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विस्तारसे खण्डन किया हैं।

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होनेसे अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञानको प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रमाण वही कहलाता हैं जो निश्चयात्मक हो।

लोक-व्यवहारमें साधक न होनेसे अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होनेसे व्यवहारमें अनुपयोगी है। जिस प्रकार मार्गमें चलते हुए तृणस्पर्श आदिका अनध्यवसायरूप ज्ञान अनिश्चयत्मक होनेसे लोकव्यवहारमें उपयोगी नहीं है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी अनुपयोगी हैं। अतएव वह प्रमाण नहीं हो सकता।

प्रमाणका फल

जैन न्यायमें ज्ञानको प्रमाण माना गया है। इसलिए अज्ञाननिवृत्तिको उसका फल माना है। आचार्य समन्तभद्रने लिखा है—

"उपेक्षाफलमाद्यस्य , शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥"

—आप्तमीमांसा १०२।

केवलज्ञानका फल उपेक्षाबुद्धि है। शेष मति आदि ज्ञानोंका फल हेय, उपादेय और उपेक्षा बुद्धि हैं। यह परम्परा फल है। साक्षात् फल अज्ञान-निर्वृत्ति है। आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१।१०)में इसका विस्तारसे विवेचन किया है। भट्ट अकलंकने लिखा है—

"प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः।"

—सिद्धिवि० १।३।

अर्थात् प्रमाणका साक्षात् फल अभीष्ट अर्थके निश्चयकी सिद्धि रूप अज्ञानकी निवृत्ति है।

बादके जैन दार्शनिकोंने भी इसी दृष्टिकोणका प्रतिपादन किया है। शान्तिवर्णीने प्रमाणके फलका विस्तारसे विवेचन किया है।

जैनेतर न्यायमें ज्ञानको प्रमाणका फल तथा ज्ञानके कारणोंको प्रमाण माना गया है। वात्स्यायन और न्यायमंजरीकारने भी ज्ञानको प्रमाण माननेकी स्थितिमें हेय, उपादेय और उपेक्षाबुद्धिको उसका फल कहा है—

"यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।" —वात्स्यायन भा० पृष्ठ १७

"प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।
तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्धयः॥"

—न्यायमं० ६२।

प्रमाण और फलका भेदाभेद

जैन न्यायमें प्रमाण और फलका कथंचित् भेदाभेद माना गया है। जैन दर्शनमें आत्माको ज्ञानरूप माना है तथा ज्ञानरूप होनेसे वह प्रमाण और फल दोनों रूपमें परिणमन करता है। अतएव एक प्रमाताकी अपेक्षा प्रमाण और फलमें अभेद तथा कार्य और कारणरूपसे पर्यायभेद होनेके कारण दोनोंमें भेद है। शान्तिवर्णीने यह भी लिखा है कि ज्ञानरूपसे दोनोंमें अभेद है तथा प्रमाण और फलरूपसे भेद है।

जैन और बौद्ध न्यायके अतिरिक्त अन्य सभी नैयायिकोंने ज्ञानको प्रमाणका फल तथा ज्ञानके कारणोंको प्रमाण माना है। इस प्रकार वे प्रमाण और फलमें सर्वथा भेद मानते हैं। विपरीत इसके बौद्ध प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद मानते हैं।

सर्वज्ञसिद्धि

सर्वज्ञताकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

जैनदर्शनमें आत्माको ज्ञानगुण युक्त चेतनद्रव्य माना गया है। कर्मोंके आवरणके कारण उसका यह ज्ञानगुण पूर्णरूपसे प्रकट नहीं होता। जैसे-जैसे कर्मका आवरण हटता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञानका विकसित रूप प्रकट होता जाता है, इस प्रकार जब आवरण सर्वथा हट जाता है तो निरावरण केवलज्ञान प्रकट होता है। इसे क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञानी त्रिकालवर्ती सभी रूपी-अरूपी द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको एक साथ जानता है। आचार्य कुन्दकुन्दने लिखा है—

**"जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्त विसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा॥
दव्वमणंतपज्जमेकमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि॥"**

—प्रवचनसार १।४७-४९

सर्वज्ञसिद्धिका दार्शनिक आधार

सर्वज्ञकी उपर्युक्त सैद्धान्तिक मान्यताको बादके दार्शनिकोंने तार्किक आधार देकर सिद्ध किया है। मुख्य आधार अनुमान प्रमाण है। आचार्य समन्तभद्रने लिखा है—

**"सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥"** —आप्तमीमांसा श्लो० ५

सूक्ष्म पदार्थ—परमाणु आदि, अन्तरित—राम, रावण आदि, दूरार्थ—सुमेरु पर्वतादि अग्नि आदिकी तरह अनुमेय होनेसे किसीके प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस हेतुसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

भट्ट अकलंकने सर्वज्ञताका समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मा

में समस्त पदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण उसके ज्ञानका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मोंका, पूर्ण क्षय हो जाता है तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंके जाननेमें क्या बाधा है (न्यायवि० श्लो० ४६५)। यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यकालीन दशाओंका उपदेश कैसे हो सकेगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतः यह मानना अनिवार्य है कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थ दर्शनके बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्य स्वप्नदर्शन इन्द्रिय आदिकी सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ आदिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भावी पदार्थोंमें संवादी और स्पष्ट होता है। जैसे ईक्षणिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है, उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है (सिद्धिवि० न्यायवि० आदि)।

आचार्य हेमचन्द्रने लिखा है—

"प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धिः॥"—प्रामाणमी० १।१६

सर्वज्ञताकी सिद्धिमें बाधक प्रमाणका अभाव

अकलंकने सर्वज्ञताकी सिद्धिमें एक और हेतु यह दिया है कि सर्वज्ञताकी सिद्धिमें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। बाधकका अभाव सिद्धिका बलवान् साधक है। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका बाधक प्रमाण नहीं है। चूंकि सर्वज्ञकी सत्तामें कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसकी निर्बाध सत्ता सिद्ध है। अकलंकने लिखा है—

अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।'

—सिद्धिवि०

इसी सरणिपर बादके जैन दार्शनिकोंने सर्वज्ञसिद्धिका विस्तृत विवेचन किया है।

ग्रन्थकार

प्रमेयकण्ठिकाके प्रत्येक स्तवकके अन्तमें उपलब्ध पुष्पिका वाक्यमें ग्रन्थको श्री शान्तिवर्णीविरचित कहा गया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थके आदि या अन्तमें ग्रन्थकारके विषयमें कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती। शान्ति वर्णीने अपनी गुरुपरम्परा आदिका भी उल्लेख नहीं किया। इसलिए इनके समयका ठीक ठीक निर्णय कर पाना कठिन है।

माणिक्यनन्दि कृत परीक्षामुखपर जो टीकाएँ लिखी गयीं उनके सन्दर्भमें प्रमेयकण्ठिकाकारके समयपर विचार करना उपयुक्त लगता है।

शान्तिवर्णीने अपने इस ग्रन्थकी रचना परीक्षामुखके प्रथम सूत्रको आधार बनाकर की। यह विचारणीय है कि यदि उनके समक्ष आचार्य प्रभाचन्द्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, आचार्य अनन्तवीर्य कृत प्रमेयरत्नमाला तथा भट्टारक चारुकीर्ति कृत प्रमेयरत्नालंकार नामक टीकाएँ उपलब्ध थीं तो प्रमेयकण्ठिकाके निर्माणकी आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई। शान्तिवर्णी-ने प्रमेयकण्ठिकाके अन्तमें प्रकारान्तरसे प्रमेयकमलमार्तण्डका तो उल्लेख किया है किन्तु प्रमेयरत्नमाला या प्रमेयरत्नालंकारका नहीं। इससे प्रतीत होता है कि संभवतया शान्तिवर्णीके समक्ष ये दोनों टीकाएँ नहीं थीं। उन्हें प्रमेयकमलमात्तोड वहुत विस्तृत और दुरुह प्रतीत हुआ इसलिए उन्होंने प्रमेयकण्ठिकाकी रचना की। यह भी संभव है उक्त दोनों टीकाओं-के विद्यमान रहने पर भी शान्तिवर्णीको यह आवश्यक लगा हो कि जैन न्यायकी कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार संक्षेपमें प्रस्तुत की जायें जिससे उन्हें कण्ठिकाके मोतियोंकी तरह कण्ठमें धारण किया जा सके। प्रमेय-कण्ठिकाका अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन इस बातका साक्ष्य है।

उक्त स्थितिमें शान्तिवर्णीके समयका निर्णय कठिन है किन्तु बाव-जूद इसके ग्रन्थकी महत्ताके आधार पर उनके बहुश्रुत व्यक्तित्वका पता चलता है। उनके जीवन-परिचयसे सम्बद्ध अन्य साक्ष्य उपलब्ध होने पर ही उनके समय आदिका विवेचन करना उपयुक्त होगा।

—गोकुलचन्द्र जैन

क्रम

श्रीशान्तिवर्णिविरचिता

प्रमेयकण्ठिका

श्रीवर्द्धमानमानम्य विष्णुं विश्वसृजं हरम् ।
परीक्षामुखसूत्रस्याद्यस्यार्थं विवृणोम्यहम्[1] ॥

§१. अथ "**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्** [परीक्षा० १।१] इति प्रमाणलक्षणं बाधातीतम् । नान्यत् । युक्ति[2]शतबाधितत्वात् । ननु स्वापूर्वार्थेति लक्षणे यानि विशेषणान्युपात्तानि तानि निरर्थकानीति चेन्न । परप्रतिपादितानेकदूषणवारकत्वेन तेषां सार्थकत्वात् । तथाहि—किं[3] तद्दूषणम् अनिष्टं रूपं[4], तदनिष्टम् । 'ज्ञानं प्रमाणम्' इत्युक्तेनिर्विकल्पकज्ञानस्यापि प्रामाण्यं स्यादित्यापादनमेवानिष्टमस्माकं जैनानाम् । तदस्तन्निवारकत्वेन व्यवसायविशेषणस्य सार्थकत्वम् । एवमितरेषां विशेषणानां सार्थकत्वं योजनीयम् ।

§२. अथ लक्षणे तदेव विशेषणं सार्थकं यदव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवदोषनिवारकम्, यथा हेतौ व्यभिचारवारकविशेषणं सार्थकम् । इदमनुपपन्नम् । क्वचिद्धेतावसिद्धिवारकविशेषणस्यापि सार्थकत्वात् । तथाहि—चक्षुस्तैजसम्, रूपादीनां मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, इति हेतौ रूपादीनां मध्य इति विशेषणस्यासिद्धिवारकत्वम् । कथमसिद्धिवारकत्वं रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वादित्युक्ते चक्षुषि रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वमसिद्धम्, रूपत्वस्यापि व्यञ्जकत्वात् । अत उक्तम्—रूपादीनां मध्य इति ।

---

१. विवृणमहे अ । २. उक्ति - ब । ३. -त्वात् किं ब । ४. -ष्टरूपं ब ।

तेषां मध्ये रूपत्वस्यानन्तर्भावात् । तद्विशेषणस्यासिद्धिवारकत्वेन सार्थकत्वमिति चेन्न । हेतौ व्यभिचारवारकविशेषणस्यैव सार्थकत्वात् ।

§३. नन्वसिद्धिवारकविशेषणस्याप्रसिद्धिवारकविशेषणतया सार्थकत्वमिति वाच्यम् । तथाहि—रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वं तेजसोऽप्रसिद्धम् । नहि प्रदीपादौ रूपमात्रप्रकाशकत्वम् । रूपत्वस्यापि प्रकाशकत्वात् । ततस्सिद्धम[1]प्रसिद्धिवारकतया विशेषणस्य तस्य सार्थकत्वम् । साधूक्तम् । यथा हेतौ व्यभिचारवारकविशेषणमेव सार्थकमिति न[2] नियमः तथा लक्षणेऽप्यतिव्याप्त्यादिवारकविशेषणमेव सार्थकमिति न नियमः, अन्यस्यापि विशेषणस्य सार्थकत्वदर्शनात् ।

§४. किंच सूत्रोपात्तानि तानि विशेषणानि, अतिव्याप्तिवारकतयापि सार्थकानि भवन्ति । तथाहि—'ज्ञानं प्रमाणम्', इत्युक्ते पराभ्युपगते निर्विकल्पकेऽतिव्याप्तिर्भवेत् । तद्वारणार्थं व्यवसायग्रहणम् । 'व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्', इत्युक्ते भ्रमेऽतिव्याप्तिस्तन्निरासार्थमर्थग्रहणम् । 'अर्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इत्युक्ते नैयायिकाभ्युपगतधारावाहिके ज्ञानेऽतिव्याप्तिः । तन्निरासार्थमपूर्वग्रहणम् । 'अपूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इत्युक्ते मीमांसकाभ्युगतपरोक्षज्ञानेऽतिव्याप्तिः । तन्निरासार्थं स्वपदोपादानम् । ततस्तानि विशेषणानि सार्थकान्यतिव्याप्तिवारकत्वात् ।

§५. ननु 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इति प्रमाणलक्षणं स्मरणेऽव्याप्तम् । लक्ष्यैकदेशे स्मरणेऽपूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानत्वाभावात् । तत्[3] स्मरणमप्रमाणमिति चेन्न ।

---

१. स्थितम् ब । २. -ति नियमः अ । ३. ततः ब ।

स्मरणस्याविशदार्थरूपापूर्वार्थविषयत्वात् । अथ सकलवादिप्रसिद्धं तावत् स्मृतेरनुभूतार्थविषयत्वम् । तस्य यद्यविशदार्थविषयत्वं तर्हि, अनुभूतार्थविषयत्वं भज्येत् । अनुभवे ह्यविशदार्थविषयत्वाभावात् । ततो न स्मरणस्यानुभूतार्थविषयत्वम्, तस्य तत्राव्याप्ति । नाप्यननुभूतार्थविषयत्वम्, अतिप्रसङ्गात् । न चातिप्रसङ्गः । एकस्यैवार्थस्य प्रत्यक्षे विशदतया विषयत्वात् । अविशदतया स्मरणे विषयत्वात् । तथा च वैशद्यावैशद्यभेदादर्थभेद एवेत्यनुभवस्मरणयोर्भिन्नविषयत्वं स्यात् । भिन्नविषयत्वेऽतिप्रसङ्गस्तदवस्थ एव ।

§६. ननु विशेषणभेदादर्थभेदे प्रतिक्षणं यत्[1]किंचिद्विशेषणस्यावश्य[2]कत्वेन प्रतिक्षणमर्थभेदस्स्यात् । तथा च प्रत्यभिज्ञानं कुत्रापि न स्यात् । मास्तु विशेषणभेदादर्थभेदस्तथापि[3] पूर्वोक्तदोषः तदवस्थ एव ।

§७. न च प्रमाणलक्षणाभावात् स्मृतिरप्रमाणमिति वाच्यम् । स्मृते[4]स्स्वविषयसमारोपव्यवच्छेदकेन प्रामाण्यात् । किंच अविसंवादित्वात् स्मृतिः प्रमाणं प्रत्यक्षादिवत् । यत्र त्वस्ति विषयविसंवादः, तत्र स्मरणस्याभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत् । भवतु वा स्मरणं त्वदुक्तरीत्या प्रमाणं तथापि तत्र तस्याव्याप्तिर्न परिहृतैवेति चेन्न । स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानमित्यस्य लक्षणस्य स्मृतेरपि संभवात् ।

§८. ननु कथमन[5]नुभूते विशदत्वे स्मरणस्य प्रवृत्तिः संभवतीति

१. भेदे यत्किंचित् ब । २. अनिवश्यकत्वेन ब । ३. तथा च अ । ४. सविषय अ । ५. अनुभूते अ ।

चेन्न । विशेषरूपस्यार्थस्यानुभूतत्वात् । अतस्तत्र तस्य[1] प्रवृत्तिस्संभवत्येव । अन्यथा तत्तावच्छिन्ने विषयस्मरणं न स्यात् । तत्ताया अननुभूतत्वात्, ततो यथाननुभूतायां तत्तायां स्मरणस्य प्रवृत्तिस्तद्वदस्पष्टत्वेऽपीति न कश्चिद्दोषः ।

§९. अथ नयेऽस्य लक्षणस्यातिव्याप्तिः । तथा हि—'अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः' । इति नयलक्षणम् । सोऽपि ज्ञानरूप एव । स च न प्रमाणं वस्त्वंशग्राहित्वात् । तथा चाप्रमाणरूपेऽलक्ष्ये[2] लक्षणस्य गतत्वादतिव्याप्तिः । न चातिव्याप्तिः । द्रव्यपर्यायात्मकस्यार्थत्वात्, नयस्य तद्विषयत्वाभावाल्लक्षणे[3] नयातिरिक्तत्वे सति विशेषणस्य दानाद्वा ।

§१०. ननु नयः प्रमाणमप्रमाणं वा । न तावत्प्रमाणं वस्त्वंशग्राहित्वात् । न तावदप्रमाणं अर्थाव्यभिचारित्वात् । किंतु प्रमाणैकदेशः । यथा समुद्रांशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रः, किंतु समुद्रैकदेशः ।

§११. ननु सूत्रे स्वीकृतो यो व्यवसायस्स[4] च किं समारोपविरोधीति वार्थः,[5] आहोस्वित्सविकल्परूपो वा । न तावदाद्यः पक्षः । बहिरर्थापह्नोतॄणां ब्रह्माद्वैतवादिनां विपर्यासस्यार्थविशेषणेन व्युदाससंभवात् । तस्माद्द्वितीयः पक्षोऽङ्गीकर्त्तव्यः ।

§१२. ननु ज्ञानरूपस्य प्रमाणस्य किं फलमिति चेदज्ञाननिवृत्तिः फलम् । अथ अज्ञाननिवृत्तिः संशयविपर्यासानध्यवसायस्य

---

१. प्रवृत्ति अ । २. तथा प्रमाण० ब । ३. विषयकत्वा० ब ।
४. -यस्य च अ । ५. वा अहो अ ।

निवृत्तिः वा आहोस्वित् ज्ञानाभावस्य निवृत्तिर्वा। न तावत्प्रथमः पक्षः। घटोऽस्ति न वेत्यसंशयितुः[1] पुंसः घटोऽयमिति प्रतीतेः। न च तत्र संशयनिवृत्तिः। प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य। ततोऽज्ञानं ज्ञानाभावमित्यङ्गीकर्त्तव्यम्। तच्च ज्ञानात्पूर्वमावश्यकमिति तन्निवृत्तिस्तु संभवत्येव।

§१३. नन्वज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणभूतं ज्ञानमेव। तथा चाभेदे कार्यकारणभावो नोपपद्यते। गुणगुणिभाववत्।

§१४. ननु गुणगुणिनोरभेदे किं बाधकम्। तथाहि—शुक्लपटयोरभेदे घटः कलश इतिवत्। शुक्लः पट इति सह प्रयोगो न स्यात्। अन्धस्य पटग्रहवत् रूपग्रहः। रूपाग्रहवत् पटाग्रहोऽपि स्यात्। महारजन्यां रक्ते[2] पटग्रहवत्। शुक्लग्रहः शुक्लाग्रहवत् पटाग्रहोऽपि स्यात्। पटमानयेत्युक्ते यं कश्चिच्छुक्लमानयेत्। अपटः पट इतिवत्। अशुक्लः पट इति विरुध्येत्। पटशुक्लयोरभेदात्। अनलसंयोगादेकत्र श्यामरक्तयोर्विनाशोत्पादे घटस्य तौ स्याताम्। तयोरपि तौ न स्याताम्।

§१५. अथ अन्धस्य शुक्लादिप्रतीतिरस्त्येव द्रव्यत्वेन न तु शुक्लत्वेनेति चेत्। शुक्लत्वमधुरत्वोष्णत्वादीनां द्रव्यवृत्तित्वेन द्रव्यग्राहकत्वगादिभिरन्धादीनां ग्रहणप्रसङ्गात्।

§१६. ननु रूपत्वादीनां प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वान्नैवमिति चेन्न। रूपत्वादीनां द्रव्यवृत्तित्वे प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतैव न स्यात्। योग्यद्रव्यवृत्तित्वेन जातेर्ग्रहणयोग्यत्वात्। तस्माद्रूपत्वादीनां[3] प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यतापि गुणगुणिभेदे मानम-

१. संगयितस्य अ। २. न्यां -पट० अ। ३. रूपत्वादि प्रति० अ।

भेदे च कथं पटस्य शुक्लरूपम्। पटश्शुक्लरूपवानिति[1] प्रतीति-प्रसङ्गश्च।

§१७. नन्वेकान्ताभेदे सर्वमिदं दूषणम्। वयं तु भेदाभेदवादिनस्तथा च न भेदमादाय पौनरुक्त्यादि। अत्यन्तमभेदे भेदे च न सामानाधिकरण्यमिति। तत एव भेदाभेदसिद्धिः। न च भेदाभेदयोः परस्परविरहरूपतया विरुद्धयोः कथमेकत्र समावेशः, इति वाच्यम् संयोगतदभावयोरिव अविरोधात्। पाकानन्तरं रक्तोऽयं न श्याम, इत्यबाधितानुभवबलात्तत्रैव तदन्योन्याभावसिद्धेस्त्वयापि भेदाभेदस्वीकारात्।

§१८. ननु वृक्षेऽवच्छेदभेदेन संयोगतदभावौ वर्तेते ज्ञायेते च। तथा च श्यामावच्छिन्नस्य तस्यान्योन्याभावः तत्रैव रक्तावच्छिन्ने तदन्योन्याभावश्च श्यामावच्छिन्ने तद्वदिहापि नीलस्यान्यो-न्याभावो घटत्वावच्छेदेनेति नीलाद् घटभेदोऽस्तु। अभेदस्तु नीलान्योन्याभावाभावरूपो घटे। न घटत्वावच्छेदेन[2] विरोधात्। एकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्र वृत्तेरज्ञानाच्च। नाप्यवच्छेद-कान्तरेण, घटे तदभावात्। तदज्ञानेऽपि नीलो घट इत्यनुभवाच्च।

§१९. नन्वेकावच्छेदेन भावाभावयोरेकत्रावृत्तिरिति यदुक्तं तन्नोप-पद्यते। तथाहि—इह भूतले घटाभाव इति योऽभावस्स तु किमन्योन्याभावो वा, प्रागभावो वा, प्रध्वंसाभावो वा, अत्यन्ताभावो वा। न तावदन्योन्याभावस्संसर्गाभावत्वेनोप-स्थितत्वात्। न प्रागभावप्रध्वंसौ प्रतियोगिसमानकालत्वात्।

---

१. शुक्लवान् अ। २. घटघटत्वा- ब।

अतोऽत्यन्ताभावोऽङ्गीकर्त्तव्यः। सोऽत्यन्ताभावो नित्यः। यथा घटापसारणानन्तरं भूतले घटात्यन्ताभावः प्रवर्तते। तथा तत्र घटवत्तादशायामप्यभाव[1] इत्येकावच्छेदेन घट-तदभावयोर्वृत्तिरविरुद्धेति त्वयाप्यङ्गीकर्त्तव्यमेव।

§२०. ननु भावाभावौ विरुद्धावित्यत्र विरोधस्तावद् विशेषणम्। तेन सह तयोः कस्संबन्धः। संयोगो वा, समवायो वा, विशेषणभावो वा। न तावत्संयोगोऽद्रव्यत्वात्। नापि समवायः द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषव्यतिरिक्तत्वात्। नापि विशेषणभावस्संबन्धान्तरेण[2] संबद्धे वस्तुनि विशेषण-भावस्याप्यसंभवात्। अन्यथा दण्डपुरुषादौ संयोगादिसंबन्धा-भावेऽपि स स्यात्। इत्यलं संयोगादि[3]संबन्धकल्पनाप्रयासेन। अथ यत्र संयोगो न संभवति, न वा समवायः, तत्र विशेषण-विशेष्यभावः संबन्धोऽङ्गीक्रियते। दण्डपुरुषादौ तु संयोगादि-संबन्धस्संभवत्येव। सति संभवत्वे त्यागायोगात्। प्रकृते तु न संभवति। अतो विशेषणभावः संबन्धोऽङ्गीकृत इति।

§२१. ननु विशेषणभावः षट्पदार्थेभ्यो भिन्नो वा अभिन्नो वा। भिन्नश्चेत्किं भावरूपो वाभावरूपो वा। न तावद्भावरूपः। षडेव भाव[4]पदार्थ इति नियमविरोधात्। नाप्यभावरूपोऽनभ्युप-गमात्। अभेदेऽपि न तावद्द्रव्यं गुणाश्रितत्वाभावप्रसङ्गात्। अत एव न गुणोऽपि नापि कर्म, कर्माश्रितत्वाभावानुषङ्गात्। अकर्मकर्मेत्यभिधानात्। नापि सामान्यं समवाये तदभावा-पत्तेः पदार्थवृत्तित्रयवृत्तित्वात्तस्य। नापि विशेषो विशेषाणां नित्यद्रव्याश्रितत्वात् अन्यत्र[5] द्रव्ये चास्योपलम्भात्। न

---

१. -वत्तायाा० अ। २. संभवान्तरेण अ। ३. संयोगसंबन्ध० अ। ४. षडेव पदार्थः ब। ५. अनित्य ब।

समवायस्समवाये तदभावात् । तथा च विशेषणभावो गगनारविन्दसदृश इति, तस्माद्भावाभावौ विरुद्धाविति कथमिति चेत् । तस्मान्न प्रमाणफलयोस्सर्वथाभेदः । नापि भेदस्तयोस्सर्वथाभेदे कार्यकारणभावस्यैवासंभवात् । यदि[1] भिन्नयोरपि कार्यकारणभावस्स्यात्तर्हि भिन्नयोरपि सह्यविन्ध्ययोः कार्यकारणभावस्स्यात् । अथ समवायाभावान्न कार्यकारणभावस्तयोरिति चेत् । समवायोऽपि कुतो नेति चेत् । अवयवावयव्यादिभावाभावात्[2] अवयवावयव्यादिकाभावोऽपि कुतो न भवेत् । तथा प्रतीत्यभावात् । सापि कुतो नेति चेत् । समवायाभावात् । तथा सति चक्रकप्रसङ्गः । तथाहि— सिद्धे हि समवाये अवयवावयव्यादिभावसिद्धिः । तत्सिद्धौ समवायसिद्धिरिति ।

§२२. किंच समवायसद्भावे किं प्रमाणम् । प्रत्यक्षमिति चेत् । तदयुक्तम् । अर्थानामसाधारणस्वरूपत्वे सिद्धे सिध्येत् प्रत्यक्षता । पृथुबुध्नोदराद्याकारकघटादिवत् । न चास्य तत्सिद्धम् । तद्धि किमयुतसिद्धसंबन्धत्वं संबन्धमात्रं वा । न तावदयुतसिद्धसंबन्धत्वम् । सर्वैरप्रतीयमानत्वात् । यत्पुनः यत्स्वरूपं तत्तेन स्वरूपेण प्रतिभासते । यथा पृथुबुध्नोदराद्याकारतया घट इति । न चैकस्य सामान्यात्मकं स्वरूपं युक्तम् । समानानामभावे सामान्याभावात् । गगने गगनत्ववत् । नापि संबन्धमात्रं समवायस्यासाधारणं स्वरूपं संयोगादावपि संभवात् । ततोऽसाधारणस्वरूपासिद्धौ समवायस्य तत्सद्भावे न प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।

§२३. इह तंतुषु पट इत्यादि प्रत्ययस्संबन्धकार्योऽबाध्यमानेह

१. यद ब । २. -व्याभावा० ब ।

प्रत्ययत्वात् । इह कुंडे दधीत्यादि प्रत्ययवदित्यनुमानं प्रमाणमिति चेन्न । हेतोराश्रयासिद्धत्वात्[१] । तदसिद्धत्वं च इह तंतुषु पट इत्यादि प्रत्ययस्य धर्मिणोऽसिद्धे । अप्रसिद्धविशेषणश्चायं हेतुः । पटे तन्तवो वृक्षे शाखा इत्यादि रूपतया प्रतीयमानप्रत्ययेन इह तन्तुषु पट इति प्रत्ययस्य बाध्यमानत्वात् । स्वरूपासिद्धश्च । तन्तुपटप्रत्यये इह प्रत्ययस्यानुभवाभावात् । पटोऽयमित्यादिस्वरूपतया हि प्रत्ययो[२]ननुभूतेऽनैकान्तिकश्च । इह [३]प्रागभावेऽनादित्वमिह प्रध्वंसाभावे प्रध्वंसाभावाभाव इति प्रत्ययात् । [४]तस्मान्न समवायसद्भावेऽनुमानं प्रमाणम् ।

§२४. किंचायं समवायः असमवायिनोस्समवायिनोर्वा परिकल्प्यते । यद्यसमवायिनोस्तर्हि घटपटयोरप्येतत्प्रसंगः । अथ समवायिनोः कुतस्तयोस्समवायित्वम्, समवायात्, स्वतो वा । समवायाच्चेत् अन्योन्याश्रयसिद्धे हि समवायत्वे तयोस्समवायः । तस्माच्च तत्त्वमिति । किंचाभिन्नं तेनानयोस्समवायित्वं विधीयते भिन्नं वा । न तावदभिन्नं तद्विधाने गगनादीनां विधानानुषंगात् । भिन्नं चेत्तयोस्तत् संबन्धित्वानुपपत्तिः । संबन्धान्तरकल्पनेऽनवस्था । तत एव तन्नियमे इतरेतराश्रयः । सिद्धे हि समवायिनोस्समवायित्वनियमे समवायनियमसिद्धिरिति । स्वत एव समवायिनोस्समवायित्वे किं समवायेन । ततो न सर्वथा प्रमाणफलयोर्भेदः । ततः प्रमाणात्फलस्य भिन्नत्वमभिन्नत्वं चोररीकर्त्तव्यम् ।

§२५. ननु कथं प्रमाणात् फलस्य भिन्नत्वमभिन्नत्वं चेति चेत् ।

---

१. -त्वाभावात् अ । २. -यानुभूते ब । ३. भावनादिकम् ब ।
४. -भावः त० ब ।

आत्मनो हि [1]पर्यायपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्याप्रियमाणं स्वरूपं प्रमाणं निर्व्यापारम्। व्यापारस्तु क्रियास्वातन्त्र्येण व्याप्रियमाणं प्रमाणता इति कथंचिद्भेदः। पूर्वपर्यायान्वितस्य प्रत्ययस्य प्रमितिविशेषणरूपतयोत्पत्तेरभेदः। अथवा ज्ञानत्वेन तयोरभेदः प्रमाणत्वेन [2]फलत्वेन भेद इति।

इति शांतिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां प्रथमस्तबकः॥

१. पदार्थ ब। २. -णत्वेन भेदः अ।

अथ द्वितीयस्तबकः

§२६. अथ प्रमाणस्य 'प्रमाकरणं प्रमाणम्', इत्येतल्लक्षणमेवास्त्विति चेन्न, विचारासहत्वात्। तथाहि—प्रमाकरणं प्रमाणमित्यत्र का वा प्रमा यस्याः करणं प्रमाणं भवेत्। 'यथार्थानुभवः प्रमा' इति प्रमालक्षणमिति चेन्न। तत्र यथाशब्दार्थः[1] सादृश्यं ज्ञाने घटत्वादीनां तस्याभावात्। प्रमेयत्वेन सादृश्ये भ्रमेऽपि गतत्वात्। नापि 'गुणजन्यानुभवः प्रमा'। अन्योन्याश्रयात्। सिद्धे गुणे तज्जन्यानुभवः प्रमा, इति प्रमासिद्धिः। तत्सिद्धौ च गुणसिद्धिरिति। नापि 'अबाधितानुभवः[2] प्रमा', बाधस्य विपरीतप्रमात्वात्। तथा चात्माश्रयः। 'तद्वति तत्प्रकारानुभवः प्रमा,' इत्यपि न। निर्विकल्पकप्रमायामव्याप्तेः।

§२७. अस्तु तावदिदं यथाकथंचित् प्रमालक्षणम्। तथापि प्रमाकरणं प्रमाणलक्षणमिन्द्रियरूपे[3]ऽप्रमाणेऽव्याप्तम्। तेन करणेन प्रमाया अजननात्[4]। तथाहि—प्रमाकरणं प्रमाणमित्यत्र किं करणम्। साधकतमं करणम्। किं तत्साधकतमत्वम्। करणस्यातिशयितत्वम्। तदपि किं व्यापारत्वम्। तथा च सकलकरणानां क्रियाप्रसिद्धौ व्यापारवत्करणमिति व्यापारवत्त्वेन कर्त्रादीनां करणत्वं समागतमिति चेत् न, प्रमाकरिघटादौ प्रमेये[5] सति प्रमानुत्पत्तेः। न चेन्द्रिये सत्यवश्यं प्रमोत्पत्तिरिति

१. यथा **ब**। २. अविदितानुभवः **ब**। ३. प्रमाणमितिलक्षणमिन्द्रियरूपे **ब**। ४. अजनात् **अ**। ५. न, प्रमातुः प्रमेये **ब**।

तस्य करणत्वमिति वाच्यम्। सतीन्द्रिये प्रमानुत्पत्तेस्तथा च तत्र [1]तस्याव्याप्तिः।

§२८. किंचेदं लक्षणमसंभवि, लक्ष्ये सन्निकर्षादौ करणत्वासंभवात्। सम्यग्ज्ञानस्यैव करणत्वात्। किंच सन्निकर्षादिर्न करणम-साधकतमत्वात्[2]। घटवत्।

§२९. नन्विदं साधनमसिद्धम्। समनस्कादुष्टेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सत्यविलम्बेन प्रमोत्पत्तिरिति चेन्न, समनस्कादुष्टेन्द्रियसन्नि-कर्षस्याविलम्बेन प्रमोत्पादकत्वमसिद्धमेव। आकाशे तत्स[3]-द्भावेऽपि तदभावात्।

§३०. तत्रोद्भूतरूपसहकारिणोऽभावात् सा न भवतीति चेत्तर्हि अन्धकारवति प्रदेशे विद्यमानस्य घटादेश्चाक्षुषसाक्षात्कार-स्स्यात्। तत्रोद्भूतरूपवत्त्वस्य सन्निकर्षस्य च विद्यमानत्वात्।

§३१. तत्राल्लोकाभावान्न घटादेः प्रतीतिरिति चेन्न। आलोकस्य घटादिप्रतीतावकारणत्वात्। कारणत्वे वा नक्तंचरादीनां अन्धकारे प्रतीतिर्न स्यात्। आलोकाभावात्। न चालोका-भावः पेचकादीनां चक्षुषि तेजोन्तरस्य विद्यमानत्वात्।

§३२. ननु पेचकादीनां चक्षुःस्थं तेज उद्भूतरूपमनुद्भूतरूपं वा। यद्युद्भूतरूपं तदान्धकारे पर्यटन्मार्जारादिनयनगतस्य तेजसोऽस्मदादि घटादिचाक्षुषसाक्षात्कारे कारणता स्यात्। प्रदीपादिवत्। अथानुद्भूतरूपमिति चेन्न। नयनातिरिक्तस्य तेजस उद्भूतरूपत्वात्।

१. तस्य तत्रा० ब। २. करणं साधकतमत्वाभावात् ब।
३. तद्भावे अ।

§३३. ननु यदि चाक्षुषसाक्षात्कारे आलोकस्य कारणता न स्यात्, तर्ह्यन्धकारवति गेहे घटसंशयानन्तरं तन्निश्चयार्थं प्रदीपाद्युपादानमनर्थकं स्यादिति चेन्न। प्रतिबन्धकापनयनार्थं तदुपादानमिति चेत्तर्हि तद्द्वारा तस्य तत्र कारणता स्यात्, इति चेन्न। कुड्याद्यावरणाभिघातस्य मुसलादेश्च घटचाक्षुषसाक्षात्कारे करणताप्रसंगात्। तस्मान्न तत्र यथालोकस्य कारणत्वं तथोद्भूतरूपवत्त्वसन्निकर्षयोरपि।

§३४. तथा च प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणमविचारितरमणीयमेव।

§३५. किंच सन्निकर्षो नाम संबन्धः। स च कथं घटते, इन्द्रियस्य मुखदेशे विद्यमानत्वात्, अर्थस्यान्यत्रविद्यमानत्वात्[1]। अथ नयनं न गोलक[2]रूपं किंतु तेजोरूपमतस्तद्रश्मीनां विषयेषु संबन्धः संपनीपद्यत इति चेत्तस्य तेजोरूपत्वे प्रमाणाभावात्। न च प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। तस्य तेजोरूपत्वेऽनुमानस्य विद्यमानत्वात्।

§३६. तथाहि—चक्षुस्तैजसं रूपादीनां मध्ये रूपस्यैवाभिव्यंजकत्वात्, प्रदीपवत्, इति तैजसत्वसिद्धिः, इति चेन्न। हेतोस्सन्निकर्षे व्यभिचारात्।

§३७. किंच तत्तेजः किमुद्भूतरूपमनुद्भूतरूपं वा। न तावदाद्यः पक्षः। चक्षुष्यनुपलम्भात्। नापि द्वितीयः अर्थप्रकाशकत्वाभावप्रसंगात्। सर्वत्रोद्भूतरूपस्यार्थप्रकाशकत्वदर्शनात्।

१. अर्थस्यान्यत्र विद्यमानत्वात् अ प्रतौ नास्ति। २. नयनं गोलक० अ।

ततो नयनमर्थप्रकाशकं न भवत्यनुद्भूतरूपत्वात्। तप्तवारिस्थतेजोवदित्यपि न सम्यक्, हेतो सोपाधिकत्वात्। न च पक्षेतरत्वमुपाधिरिति वाच्यम्, सकलानुमानोच्छेदप्रसंगात्।

§३८. चाक्षुषज्ञानजनकत्वाभाव: उपाधिरिति चेन्न। तत्र प्रमाणाभावात्। न चायं हेतुस्सोपाधिक:। साध्यं[1] साधकत्वादित्यनुमानं प्रमाणमस्तीति वाच्यम्। हेत्वोरनुकूलत[2]र्काभावेन व्यभिचारात्।

§३९. ननु यत्रानुकूलतर्काभावस्तत्रावश्यमुपाधिरस्तीति व्यभिचार:, इति चेन्न। तत्र प्रमाणाभावात्।

§४०. किंच यत्रानुकूलतर्काभाव: तत्रोपाधेर्व्यापकत्वं वा करणत्वं वा, उपजीव्यत्वं वा। न तावदाद्य: पक्ष:। तस्य व्यापकभावे विनिगमकाभावात्। नापि द्वितीय: तृतीय:। तत[3] एव तस्माद्धेतोरप्रयोजकत्वेऽनुकूलत[4]र्काभाव: कारणं नोपाधि:, परपरिकल्पितस्तस्य तुच्छत्वात्। तथा च प्रकृतानुमानं निर्दुष्टमेव, अनुकूलतर्कस्य विद्यमानत्वादिति।

§४१. अथ 'कारकसाकल्यं प्रमाणम्' इत्यपरे। तेऽप्येवं प्रष्टव्या:, सकलानि कारणानि, साकल्यं वा तद्वैशिष्ट्यं वा। न तावदाद्य: पक्ष: सकलकारकाणां करणत्वप्रसङ्ग:। तदा स कर्त्रादिकारकव्यवहारविलोपापत्ति:। नापि तद्वैशिष्ट्यं तस्यासंभवात्। तथाहि—वैशिष्ट्यं नाम संबन्ध:। स च संयोगो वा, समवायो वा तत्स्वरूपं वा, तद्धर्मो वा। न तावत्संयोग:, आत्मन: कर्तुर्घटरूपकर्मणा संयोगाभावात्। आत्मनस्स्वशरीरे विद्यमानत्वात्। घटादेश्च दूरदेशे विद्यमानत्वात्।

१. साध्य अ। २. कर्ता अ। ३. अत एव ब। ४. कर्ता० ब।

§४२. अथ[1] आत्मनो व्यापकत्वात् संयोगस्संभवतीति चेत्तर्हि, तत्र किं प्रमाणम् । आत्मा व्यापकः नित्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणाश्रयत्वादाकाशवदिति चेन्न, अहमत्रास्मीति प्रत्ययेनानुमानबाधात्[2] । न चाहमत्रास्मीति प्रत्ययेनानुमानबाध इति वाच्यम् । अहमत्रास्मीति प्रत्ययस्योभयवादिसिद्धत्वात् ।

§४३. ननूभयवादिसिद्धत्वेऽप्यहमत्रास्मीति प्रत्ययो भ्रमरूप इति चेन्न । भ्रान्तित्वे बाधकाभावात् । यद्यपि नाहमत्रास्मीति प्रत्ययो नास्ति तथापि युक्तिबाधोऽस्त्येवेति चेन्न । युक्ति[3]स्तावदात्मनो व्यापकत्वसाधकानुमानम्, तत्राद्यापि विवादात् । अतस्तेन तस्य कथं बाधः ।

§४४. ननु देशान्तरगतमण्याद्यागमनं देवदत्तस्य तावदनुभवसिद्धम् । आगमनं हि कार्यम् । तच्च कारणेन विनानुपपद्यमानं सत्कारणमाक्षिपति ।

§४५. तथा च कार्यदेशे नियमेन कारणमस्तीति चेद्वाच्यम्—तर्हि कारणमदृष्टाख्यम् । अदृष्टस्य गुणरूपत्वेन गुणिनं विहाय गुणस्यावस्थानासंभवात् । अतस्तत्रापि गुण्यात्मास्त्येवेति आत्मनो व्यापकत्वसिद्धिः ।

§४६. कार्यदेशे संनिहितमेव सर्वं कारणमिति न नियमः । मन्त्रादेर्देशान्तरस्थाङ्गनाद्याकर्षणात्मकं[4] कार्यं प्रति कारणत्वेनोपालम्भात् । ततश्शरीरावच्छिन्नात्मनि प्रवर्तमानात्तादृशाददृष्टादेव देशान्तरस्थमण्याद्युपसर्पणसिद्धेर्नात्मनो व्यापकत्वमिति ।

१. अथ अ प्रतौ नास्ति । २. -मानाभावात् अ । ३. -ति युक्ति० ब । ४. -कर्षणाख्यकार्यं ब ।

§४७. किंचात्मा यदि व्यापकस्स्यात्, गमनादिमान्न स्यात् । तथा चात्माव्यापकः देशाद्देशान्तरप्राप्तेर्बाणादिवत् ।

§४८. नापि समवायः । समवायस्य पंचसु स्थलेषु संभवात् ।

§४९. नापि स्वरूपसंबन्धः । तत्र तत्स्वरूपाणां संबन्धत्वाघटनात्[1]। संबन्धो हि संबन्धिभ्यां भिन्नस्तावाश्रितश्चैकश्चेति[2] संबन्धस्य लक्षणम् । तच्च प्रकृते न संपनिपद्यते । अत[3] स्वरूपसंबन्धो गगनारविन्दरूप एवेति ।

§५०. नापि वैशिष्ट्यं धर्मः, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—स च कारकेभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा । यद्यभिन्नः कारकमात्रं धर्ममात्रं वा स्यात् । यदि भिन्नस्तर्हि संबन्धासिद्धिः । न च संबन्धासिद्धिरिति वाच्यम् । संयोगादिसंबन्धस्य संभवात् ।

§५१. ननु स च संबन्धः संयोगो वा समवायो वान्यो वा । न तावदाद्यः पक्षः द्रव्ययोरेव[4] संयोगात् । नापि द्वितीयः । गुणादिव्यतिरिक्तत्वात् ।

§५२. न च वैशिष्ट्यं धर्मो गुण इति वाच्यम् । चतुर्विंशतिगुणेष्वनन्तर्भावात् । नापि तस्य कर्मत्वं तस्यानन्तर्भावात् । न च जातिः, तल्लक्षणाभावात् । नैव विशेषः । नियमेन नित्यद्रव्येष्वप्रवृत्तेः । नहि समवायः । असंबन्धरूपत्वात् । अथ स्वरूपसंबन्ध इति चेन्न । पूर्वोक्तदोषकवलितत्वात्[5] । ततो न कारकसाकल्यं प्रमाणम् ।

§५३. 'इन्द्रियप्रवृत्तिः प्रमाणम्' इति सांख्याः । तेऽपि न परीक्षकाः

---

१. -त्वघटनात् ब । २. -तावा ब । ३. तत् ब । ४. -योरसं० अ । ५. कवलिक० अ ।

विचारानभिमुखत्वात् । तथा हि—इन्द्रियस्य विषयेषु प्रवृत्तिर्हीन्द्रियवृत्तिः, संबन्ध इति यावत् । स च न संभवति । तयोर्भिन्नदेशप्रवृत्तित्वात् ।

§५४. किं च इन्द्रियेभ्यो वृत्तिर्व्यतिरिक्ता वाव्यतिरिक्ता वा घटते । तेभ्यो यद्यभिन्ना तदा श्रोत्रादिमात्रमेव[1] सा । तच्च सुप्ताद्यवस्थायामप्यस्तीति तदाप्यर्थपरिछित्तिप्रसक्तेस्सुप्तादिव्यवहारोच्छेदः । अथ व्यतिरिक्तासौ तर्हि तस्येयमिति व्यपदेशासिद्धिः ।

§५५. न च[2] संबन्धात्तस्येयमिति व्यपदेशः सिध्यतीति वाच्यम् । कोऽसौ संबन्धः संयोगस्समवायो वा । न तावत्संयोगः । प्रवृत्तेरद्रव्यत्वात् । नापि समवायः । गुणगुणिनोरत्यन्तं भिन्नयोस्समवायासंभवात् ।

§५६. किं च वीणानादाकर्णनव्यासक्तस्य पुरुषस्य रूपादिविषये चक्षुषः प्रवृत्तावपि रूपादिप्रत्ययानुत्पत्तेर्नेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम् ।

§५७. 'अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रमाणम्', इति प्रभाकरमतम् । तदपि न, विचाराक्षमत्वात् । तथा हि—ज्ञातृव्यापारः किं ज्ञानरूपोऽज्ञानरूपो वा । न तावदाद्यः पक्षोऽनङ्गीकारात् । अज्ञानरूपस्सः प्रवृत्तिरूपो वान्यो वा । न प्रवृत्तिरूपस्तस्यार्थप्रकाशकताऽघटनात् । घटने वान्धकारवति प्रदेशे प्रवर्तमानस्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात् । नान्योऽनिर्वचनात् ।

§५८. अथ जानातीति क्रिया ज्ञातृ[3]व्यापार इत्यभिधीयते । स

१. श्रोत्रादिमात्रांदिमात्रेवासां ब । २. न च न संब० ब ।

३. ज्ञातृत्वव्यापारः ब ।

च बोधरूपो वाबोधरूपो वा। बोधरूपत्वे प्रमातृवत्प्रमाणान्तरगम्यता न स्यात्। अबोधरूपता तु व्यापकस्यायुक्ता। चिद्रूपस्य ज्ञातुरचिद्रूपस्य व्यापारायोगात्। तथा च न[1] च ज्ञानरूप एव युक्तः।

§५९. किं चासौ ज्ञातृव्यापारो नित्योऽनित्यो वा। न तावन्नित्यः। अन्धादीनामप्यर्थदर्शनप्रसङ्गात्। सुप्तादिव्यवहाराभावः। सर्वस्य सर्वज्ञत्वप्रसंगः। कारणान्वेषणवैयर्थ्यं[2] च स्यात्। अथानित्यस्सोऽप्यजन्यो जन्यो वा। न तावदजन्यः प्रागभाववत्। अनादित्वप्रसंगात्।

§६०. न[3] च व्यापारस्य कारकजन्यत्वमुररीक्रियत इति वाच्यम्। अनवस्थानात्। तथा हि—व्यापारजनने प्रवर्तमानानि कारकाणि[4] व्यापारान्तरसापेक्षाणि न वा। तत्राद्यपक्षेऽनवस्था, व्यापारान्तरसापेक्षैस्तैर्जननात्। व्यापारान्तरनिरपेक्षाणां तज्जनकत्वे फलजनकत्वमेवास्तु किमदृष्टव्यापारपरिकल्पनाप्रयासेन।

§६१. व्या[5]पारस्तथापि प्रकृतकार्यः। असौ व्यापारान्तरसापेक्षो न वा। न तावत्सापेक्षः। अपरापरव्यापारांतरापेक्षायामेवोपक्षीण[6]शक्तिकत्वेन प्रकृतकार्यजनकत्वाभावप्रसंगात्। व्यापारान्तरनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वे कारका[7]णामपि तथा तदस्तु, विशेषाभावात्।

§६२. किं च ज्ञातृव्यापारः किमात्मनो भिन्नो वाभिन्नो वा।

१. स च अ। २. कारकान्वे० ब। ३. स च अ। ४. कारणानि ब। ५. -यासेन वा व्या० अ। ६. -क्षेणशक्ति० अ। ७. कार्यकारणमपि अ।

भिन्नश्चेत्तस्येति व्यपदेशासिद्धिः। अभिन्नश्चेत्तादात्म्येन[१] व्यापारेणोक्तः स्यात्। ततो न प्रमाणमर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः इति।

§६३. 'अनधिगतार्थाधिगंतृत्वं प्रमाणम्,' इति भाट्टमते प्रमाण-लक्षणम्। तन्न। स्मृतेरप्रामाण्यप्रसङ्गात्। इष्टापत्तिरिति चेन्न। स्मृतिप्रामाण्यस्य पूर्वं व्यवस्थापितत्वात्।

§६४. किं चेदं लक्षणमव्याप्तम्। उपमाने[२] प्रमाणेऽनधिगतार्थाधिगंतृ-त्वाभावात्। न च संशयातिरिक्तमिदं लक्षणमिति वाच्यम्। संशयस्याधिगतार्थाधिगंतृत्वात्।

§६५. ननु संशयविषयः एको वा द्वयं वा। तच्च तत्र पूर्वं यद्यवगतं तदा विशेवत्तयावगतं न वा। न तावदाद्यः पक्षः। निश्चिते संशयायोगात्। नापि द्वितीयः। संशयादावतिव्याप्तेः। अथ[३] एकत्र वक्रकोटरादिमत्तया स्थाणुर्ज्ञातः। अपरत्र शिरः-पाण्यादिमत्तया पुरुषो ज्ञातः। तत्र स्थाणौ पुरुषे वा समवा-यान्तरविशेषापरिज्ञानदशायां संशयः संभवति।

§६६. तथा च नातिव्याप्तिः। अधिगतार्थाधिगंतृत्वात्। न च प्राथमिकघटज्ञानातिरिक्तघटज्ञानं प्रमाणं न स्यात्। अधि-गतार्थाधिगंतृत्वादिति वाच्यम्। समयभेदादर्थभेदसिद्धेः[४]। प्रकृतेऽपि समयभेदाद्विषयभेदस्य संभवादतिव्याप्तिः तत्र तदवस्थैव। ततोऽनधिगतार्थाधिगंतृ प्रमाणमिति मंदमेव।

§६७. अविसंवादिज्ञानं सौगतीयं प्रमाणम्। तदपि न। परप्रति-

१. तादात्म्यैव अ। २. उपमानप्र० अ। ३. -प्तेः एकत्र अ।
४. -दघटभेदात्सिद्धे अ।

पादितद्दूषणगणप्रसंगात् । तथा हि—अविसंवादित्वं ज्ञाने ह्युत्तरकाले ज्ञानान्तरेणाबाध्यत्वम् । तस्य कदाचिद्भ्रमेऽपि संभवात् । तत्रापि प्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

§६८. किं चाविसंवादित्वं विसंवादित्वाभावः । विसंवादित्वं बाध्यत्वम् । तच्च सतो न संभवति । स्थितिक्षणस्य त्वयानङ्गीकारात् । नाप्यसतोऽसंभवात् । तथा चाप्रसिद्धस्य विसंवादित्वस्याभावः कथं निरूपणीयोऽतिप्रसङ्गात् । ततोऽविसंवादिविज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणमविचारितरमणीयमेव ।

इति शांतिवर्णिविरचिताया प्रमेयकण्ठिकायां द्वितीयस्तवकः ।

अथ तृतीयस्तबकः

§६९. अथ ज्ञप्तौ तत्प्रमाणस्य प्रामाण्यं स्वतः परतश्च, सर्वथा प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वपरतस्त्वयोर्बाधकसद्भावात्। तथाहि—प्रमाणस्य प्रामाण्यं स्वाश्रयग्राहकग्राह्यमिति मीमांसकाः। तत्र प्रामाण्यं स्वाश्रयग्राहकेणानुमानेन गृह्यत इति भाट्टाः। स्वाश्रयग्राहकेण स्वेन गृह्यत इति प्राभाकराः। स्वाश्रयग्राहकेणाव्यवसायेन[1] गृह्यत इति मुरारिमिश्राः।

§७०. तथा च प्रयोगः—ज्ञानप्रामाण्यं स्वाश्रयग्राहकग्राह्यं भवितुमर्हति। अबाधितप्रत्ययधर्मत्वात्। यथा ज्ञानत्वमिति मीमांसकत्रितयसाधारणानुमानात् प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसिद्धिः।

§७१. यदि प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, तदनुमापकलिङ्गपक्षव्याप्त्यादिज्ञानेषु स्वस्वविषयनिश्चयार्थं प्रामाण्यस्य [2]परतो ज्ञेयत्वे फलमुखी कारणमुखी चानवस्था स्यादिति न प्रमाणं परतो ज्ञायते, इति परिशेषादपि स्वतः प्रामाण्यग्रहः।

§७२. ननु प्रामाण्यस्य स्वतो ग्रहेऽनभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने तत्संशयो न स्यात्। ज्ञानग्रहे प्रामाण्यनिश्चयात्। अनिश्चये[3] वा न स्वतःप्रामाण्यग्रह इति चेत्, पीतश्शंखः, आदर्शे मुखमित्यादि

१. अनुव्यवसायेन ब। २. ज्ञायत्वे ब। ३. अनिश्चयो ब।

भ्रमो विशेषदर्शनेऽपि यथा दोषान्तराज्जायते[१]। तथा निश्चिते प्रामाण्ये दोषान्तरात्तत्संशय इति चेत्, न, तद्वदेवात्रापि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। साक्षात्कारविशेषदर्शनं साक्षात्कारी भ्रमविरोधिदिङ्मोहादौ तथादर्शनात्। तच्च न पित्तादिना[२] न प्रतिबन्धात्। न च जात्या कश्चिद्दोषः। न च प्रामाण्यसंशयाद्विषये संशयवत् प्रामाण्यज्ञाने प्रामाण्यसंशय इति वाच्यम्। प्रामाण्यज्ञानेऽपि स्वतः प्रामाण्यग्रहे संशयानुपपत्तेः। त[३]स्मादनभ्यासदशापन्नज्ञाने प्रामाण्यं परतो ज्ञायते। सांशयिकत्वादप्रामाण्यवत्। ततो न सर्वथा प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं सिद्धम्।

§७३. परतस्त्वं तु प्रामाण्यस्य ज्ञानग्राहकातिरिक्तग्राह्यत्वम्। ज्ञानं मनसा ग्राह्यम्। तद्गतं प्रामाण्यं पुनरनुमानग्राह्यमिति नैयायिकाः। तथा च प्रयोगः—इदं जलज्ञानं प्रमाणम्। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमाणम्, इत्यस्मादनुमानात्परतस्त्वसिद्धिः।

§७४. ननु गृहीतप्रामाण्यं ज्ञानम्। न परप्रामाण्यं निश्चयरूपम्। अनवस्थावतारात्। नापि[४] ज्ञायमानप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यग्रहापत्तेरतो गृहीतप्रामाण्यमेव ज्ञानम्। परप्रामाण्यनिश्चयरूपमास्थेयम्। तथा सति [५]व्यवसायोपगृहीतप्रामाण्य एव स्वविषयं निश्चाययतु। किं विषयनिश्चयार्थं तत्प्रामाण्यग्रहेण।

§७५. अथ व्यवसायस्याप्रामाण्यदर्शनान्न तन्मात्रादर्थनिश्चयस्तर्हि

१. ज्ञायते अ। २. पित्तादीनां ननु प्रति० ब। ३. कस्माद० अ। ४. ज्ञानमनुमानप्रामाण्यं ज्ञानं स्वतः ब। ५. तदाव्यवसायाद्यगृहीत० ब।

[१]प्रामाण्यानुमितेरप्यप्रामाण्यदर्शनान्न भवतोऽपि प्रामाण्यनिश्चय इति चेन्न ब्रूमो ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयादेवार्थनिश्चय इति। किंतु [२]यत्राप्रामाणता नास्ति स्वग्रामतटाको[३]दिज्ञानेषु व्यवसाय एवार्थनिश्चय इति। तत एव प्रवृत्तिर्निष्कंपा भवेत्। साधूक्तम्। तत्राप्रामाण्यशंका कुतो न भवेत्। प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात्। तत्र प्रामाण्यनिश्चयः परतो वा स्वतो वा स्यात्। न च परतः प्रामाण्यशंकाभावात्। **"यावदाशंकं प्रामाण्यानुस्मरणम्[४]"** [] इत्युक्तत्वात्। नापि स्वतः, अपसिद्धान्तापातात्। तस्मान्न सर्वथा प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं परतस्त्वं वा सिद्धम्। किं तर्हि, अभ्यासदशायां स्वतस्त्वमनभ्यासदशायां परतस्त्वं प्रामाण्यस्योररीकर्त्तव्यम्।

§७६. ननु परतस्त्वे प्रामाण्यस्यानवस्थाप्रसंग इति चेन्न। विषयान्तरसंचारात्। स्वयं सिद्धप्रामाण्याद्वेदनात्पूर्व[५]स्य तथाभावसिद्धश्चेति प्रामाण्यज्ञप्तिवादः।

§७७. अथोत्पद्यते प्रमा[६] परत एव न तु स्वतो विज्ञानसामग्रीमात्रात्। तथाहि—अनित्या प्रमा प्रमाकरणविजातीयकारणजन्या। प्रमाविजातीयकार्यत्वाद् घटवदिति प्रमायाः परतस्त्वसिद्धिरिति चेन्न। दोषाभावेन सिद्धसाधनात्। तथा चानित्या प्रमा आगंतुक[७]भावसापेक्षज्ञानसामग्रीजन्या न [८]प्रामाण्यत्वात्, घटवत्।

§७८. ननु लाघवतर्कसहकारिणा(णो)भावरूपमेव प्रमायाः कारण-

१. अनुमिति ब। २. यत्र प्रामा० ब। ३. तटी० ब। ४. प्रामाण्यानुसरणम् ब। ५. वेदनापूर्व० ब। ६. प्रमाणं परतः अ। ७. आगंतुके ब। ८. न अप्रामा० अ।

मनुमितिर्विषयीकरोति। न त्वभावात्मकदोषाभावरूपं कारणं गौरवात्। तस्मात्प्रमां प्रति गुणो हेतुरप्रमां प्रति दोषो हेतुः। अन्यथाप्रमां प्रति गुणाभाव एव हेतुः स्याद्दोषोऽपि तत्र निदानं न भवेत्। विनिगमकाभावात्। [1]तस्मादनित्य-प्रमेत्यादिसाधनमप्रयोजकम्। अनुकूलतर्काभावात्।

§७९. अथ प्रमां भ्रमं च[2] कुर्वंती ज्ञानहेतुस्तोमे[3] किं मंडूकवशांजन-दोषाध्वंशोरगभ्रमः। तदभावात्प्रमेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां भ्रमं प्रति दोषस्य कारणताकल्पनात्। तदभाव एव प्रमां प्रति कारणं कल्प्यते। न त्वतिरिक्तो गुणः, गौरवात्। तथा च सिद्धसाधनं तदवस्थमेव। अत एव न प्रतिबंधिरपि दोष-स्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणताकल्पनात्। साधनं तु नाप्रयोजकं साधनस्य साध्यव्याप्यत्वात्।

§८०. ननु विशेषज्ञानलक्षणगुणाभावे सति न संशय-विपर्ययोत्तर-प्रत्यक्षप्रमा। तस्मिन् सति सा इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तां प्रत्यपि तस्य कारणत्वं गृहीतम्। अतः क्वार्थांतरम्। मीमांसकीयसाधने चाप्रयोजकत्वं तदवस्थमेव। साध्य-साधनयोर्व्याप्तेरभावात्!

§८१. ननु शाब्दप्रमां प्रति भ्रमप्रमादविप्रलिप्सा[5]करणा-पाटवात्मकदोषचतुष्टयाभावस्य कारणत्वं क्लृप्तम्। तथा सर्वत्रापि दोषाभावस्य कारणत्वं युक्तम्। अथ शाब्दप्रमां प्रत्यपि यथार्थवाक्यार्थज्ञानस्यैव गुणस्य कारणता क्लृप्त-दोषचतुष्टयाभावापेक्षया तस्य लघुत्वात्। इत्युत्पत्तौ प्रमायाः परतस्त्वसिद्धिरिति प्रामाणोत्पत्तिवादः।

---

१. -प्रमात्वादिदम् साधनम् ब। २. चाकुर्वति ब। ३. तो- मं- ब। ४. -दोषांकोरग० ब। ५. रिप्सा अ।

§८२. अथ किं तत्प्रामाण्यस्य लक्षणाम्, सत्यत्वमिति चेन्न। घटादि-साधारण्यात्। सुनिश्चितासंभवद्बाधकज्ञानत्वं प्रामाण्य-लक्षणमिति चेन्न। धारावाहिकज्ञानेऽतिव्याप्तिरिति चेन्न। गृहीतग्राहिज्ञानस्यापि बाधकसद्भावात्। तथाहि—गृहीत-ग्राहिधारावाहिज्ञानमप्रमाणम्। गृहीतग्राहिप्रत्ययत्वात्। यन्नैवं तन्नैवम्। यथा प्रमाणम्। ततस्तत्र तल्लक्षणं नाति-व्याप्तम्। इति सुनिश्चितासंभवद्बाधकज्ञानत्वं वा स्वापूर्वार्थ-व्यवसायायात्मकज्ञानत्वं वा प्रामाण्यस्य लक्षणम्।

§८३. अन्ये तु तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यलक्षणमाचक्षते। तदविचारितरमणीयमिति सर्वं सुस्थम्॥

इति शांतिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां तृतीयस्तबकः।

अथ चतुर्थस्तबकः

§८४. अथ तत्प्रमाणस्य सप्तभंग्यात्मकः पदार्थो विषयः। तथा-प्रतीतेः। नन्वेकान्ततस्तत् सर्वं भावरूपमिति चेन्न। सर्वस्य सर्वात्मकत्वप्रसङ्गात्। न च तद्धर्मस्यासाधारणस्य विद्य-मानत्वान्न सर्वस्य सर्वात्मकत्वमिति वाच्यम्। असाधारण-धर्मस्य साधारणधर्माभावरूपत्वात्। तथा चासाधारण-मिच्छता भावैकान्तवादिनाप्यवश्यमभावोऽङ्गीकर्त्तव्यः। तत-स्स्यादस्तीति वक्तव्यम्।

§८५. अथ सर्वथाभावरूपमेव जगदिति चेन्न। घटस्सन् पटस्सन्निति सद्ग्राहकस्य[1] प्रत्यक्षप्रमाणस्य सद्भावात्सर्वथाभाव इत्यत्र प्रमाणाभावाच्च। ततस्स्यान्नास्तीति वक्तव्यम्।

§८६. तथा न[2] सर्वथा भावाभावात्मकश्च पदार्थस्तदंशेन[3] जात्यंतरस्यापि प्रतीतेः पानकवत्। ततस्स्यादस्तिनास्तीति वक्तव्यम्।

§८६. ननु मास्तु सर्वथास्तित्वं नास्तित्वं तदुभयं वा। अनेकदोष-कवलितत्वात्। किंतु सर्वथा सर्वमवाच्यमिति चेन्न। सर्वथा वस्तुनोऽवाच्यत्वेऽवाच्यमित्युक्तेरसंभवात्। किंचानभिला-प्यत्वे वस्तुनः केवलं जगता मूकत्वं स्याद्विधिप्रतिषेध-व्यवहारायोगात्। ततः स्यादवक्तव्यमिति वक्तव्यम्।

---

१. तद्ग्राहक० ब। २. तथा सर्वथा अ। ३. तदक्षिनो ब।

§८८. अथेदं सदिति सर्वं सामान्यरूपमिति चेन्न। तस्यावक्तव्यत्वात्। तत्र प्रमाणाभावाच्च। ततस्सदवक्तव्यमेवेति वक्तव्यम्।

§८९. ननु मा भवतु सत्तासामान्यं अन्यापोहरूपत्वं सामान्यं भवत्विति चेन्न। तस्याप्यवक्तव्यत्वात्। तस्य व्यावृत्तिरूपत्वेन सामान्यरूपताघटनाच्च। ततोऽसदवक्तव्यमिति वक्तव्यम्।

§९०. अथ सामान्यविशेषौ परस्परमत्यन्तभिन्नौ स्यातामिति चेन्न। तयोरप्यवक्तव्यत्वात्। सर्वथा सामान्यविशेषयोर्भिन्नयोः प्रमाणबाधितत्वाच्च। ततस्सदसदवक्तव्यमेवेति वक्तव्यम्। परमतापेक्षया त्वेवं भंगानामुद्देशः।

§९१. स्वमतापेक्षया त्वेवमुद्देशः। तथाहि—एकस्मिन्वस्तुनि स्यात्सत्त्वं स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया। स्यादसत्त्वं पररूपादिचतुष्टयापेक्षया। स्यात्सदसत्त्वं स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया। स्यादवक्तव्यत्वं स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया सह वक्तुमशक्तेः। स्यात्सदवक्तव्यत्वं स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः। स्यादसदवक्तव्यत्वं पररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः। स्यात्सदसदवक्तव्यत्वं स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेरिति भंगसप्तकमुपपन्नम्।

§९२. ननु सत्त्वासत्त्वयो[1]र्विरुद्धधर्मयोः कथमेकत्रावस्थितिरिति चेन्न। तयोरविरुद्धत्वात्। तथाहि—विरोधो ह्यनुपलंभसाध्यः। स च प्रकृते न संभवति। तयोरेकत्र प्रतीतेः।

---

१. सत्वासत्वं ब।

§९३. ननु घटस्सन् पटस्सन्निति घटादौ सत्त्वमेव प्रतीयते, नत्व-सत्त्वमिति चेन्न। गौणतयाऽसत्त्वस्यापि प्रतीतेः। किंच विरोधः किं सहानवस्थानलक्षणो वा परस्परपरिहारस्थिति-लक्षणो वा वध्यघातकभावो वा। न तावदाद्यः पक्षः सत्त्वा-सत्त्वयोरेकत्रोपलब्धेः। द्वितीयस्तु संभवतोस्सत्त्वासत्त्वयोरेव स्यात्। एकत्र मातुर्लिंगे रूपरसयोरिव। नापि तृतीयः। तयोस्समानबलत्वात्। किंचैकावच्छेदेनापि घटतदभाव-योरेकत्राविरोधेनावस्थितेः परैरप्यङ्गीकृतत्वात् कथं विरोधा-ख्यं दूषणं वरीवर्तीति तयोर्न विरोधः।

§९४. ननु मा भवतु विरोधः संशयादिलक्षणं तु सं संपनिपद्यते दूष-णम्। तथाहि—केन खलु स्वरूपेण घटादीनां सत्त्वं केन चासत्त्वमिति संशयः। तथा सत्त्वस्यान्यदधिकरणम्। असत्त्व-स्यान्यदधिकरणमिति वैयधिकरण्यम्। तथा येन स्वभावे-नार्थस्य सत्त्वस्वभावत्वं तेनासत्त्वस्वभावस्याप्रसंगः। येनास-त्त्वस्वभावत्वं तेन सत्त्वस्वभावस्यापि, इति संकरः "**सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः**" [ ] इत्यभिधानात्। तथा येन स्वभावेन वस्तुनस्सत्त्वं तेनासत्त्वं प्राप्नोति। येन चासत्त्वं तेन सत्त्वमिति व्यतिकरः। "**परस्परं विषयगमनं व्यति-करः**" [ ], इति प्रसिद्धेः। तथा येन रूपेण सत्त्वं तेन कथंचिदसत्त्वम्। येन चासत्त्वं तेनापि कथंचित्सत्त्वमित्यन-वस्था। अतोऽप्रतिपत्तिस्ततोऽभाव इति। तत्र न तावत्संशयः। वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वे प्रमाणसिद्धे संशयस्यासंभवात्। सत्त्वासत्त्वाप्रतीतौ हि संशयो युक्तः। क्वचित्स्थाणुत्वपुरुषत्वा-प्रतीतौ। कथमसौ चलिता[1] प्रतिपत्तिः संशयः। न चेयं प्रतिपत्तिः तथा। नापि वैयधिकरण्यम्। निर्बाधबोधे

१. चरिता ब।

सत्त्वासत्त्वयोरेकाधारतया प्रतीयमानत्वात्। न च संकर-व्यतिकरौ स्वरूपेणैवार्थे तयोः प्रतीतेः। नाप्यनवस्था धर्मिणो[1] ह्येकरूपत्वं न धर्माणां, ततः कथमनवस्था। अभावदोषस्तु दूरोत्सारित एवाशेषप्राणिनामनेकान्तात्मकार्थ-स्यानुभवसंभवात्। एवं स्यादेकं द्रव्यापेक्षया, स्यादनेकं पर्यायापेक्षया इत्यादि योज्यम्।

§९५. अथैकत्वानेकत्वयोर्विरोधात्कथमेकस्यैकत्वानेकत्वमिति चेन्न। प्रतीयमानयोस्तयोर्विरोधासंभवात्।

§९६. ननु न प्रतीयते विरोधात्तदिति चेन्न। विरोधस्यानुपलंभ-साध्यत्वात्। प्रकृते तु अनुपलंभाभावाद्विरोधो नास्ति। येन विरोधान्न प्रतीयत इति वक्तुमुद्यतोऽसि।

§९७. किंच कुंभोऽयमिति कुंभज्ञानं कुंभांशे सप्रकारकं कुंभत्वांशे निष्प्रकारकमित्येकज्ञाने सप्रकारकनिष्प्रकारकत्वयोः परै-रप्यङ्गीकृतत्वात् कुतो विरोधोऽवतिष्ठते। ततो न विरोधः। संशयादिदोषपरिहारः पूर्ववदेव। एवं सर्वं स्यान्नित्यं द्रव्यापेक्षया, स्यादनित्यं पर्यायापेक्षया इत्यादि योज्यम्।

§९८. नन्वात्मनः कथं नित्यत्वं नित्यत्वे प्रमाणासद्भावात्। तद्धि प्रत्यक्षं वानुमानं वा। न तावदाद्यः पक्षः। तस्य नीरूपत्वात्। मनसा ग्राह्यत्वेऽपि तन्नित्यत्वाग्रहात्। आत्मा नित्यः, निरंशत्वात् गगनवदित्यनुमानं प्रमाणमिति चेन्न। पाकज-रूपेण व्यभिचारात्। दत्तेऽपि रूपव्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणे कर्मणा व्यभिचारस्तदवस्थ एव। अथ निरंश[2]द्रव्य-त्वमेव साधनमिति चेन्न। विशेषणासिद्धत्वात्।

---

१. धर्मिण्यो ब। २. निरंशेतरद्र० ब।

§९९. नन्वात्मा[1] निरंशः, नित्यत्वादित्यनुमानान्निरंशत्वसिद्धिरिति चेन्न। सर्वथा नित्यत्वस्य स्वरूपासिद्धत्वात्। नित्यत्वे सिद्धे तस्य निरंशत्वसिद्धिः निरंशत्वे सिद्धे नित्यत्वसिद्धिरित्यन्यान्याश्रयाच्च।

§१००. किंच[2] कुंडली दंडी नेत्यत्र विशिष्टाभावः प्रतीयते। [3]विशिष्टत्वं च विशेषणविशेष्यतदुभयसंबन्धातिरिक्तं नास्ति। तथा च विशेषणाभाववद्विशेष्यस्याप्यभावः सिद्धस्तदा विशेष्यो नित्य एव। य एव दंडविशिष्ट आसीत्स एवेदानीं कुंडलविशिष्टो दृश्यत इति प्रत्यभिज्ञानबलान्नित्यो विशेष्यपदार्थ इति नित्या[4]नित्यत्वमेकस्य परैरंगीकर्त्तव्यम्। तथा च प्रयोगः—आत्मा नित्यानित्यात्मकस्सत्त्वात्। यन्नैवं तन्नैवम्। यथा गगनकोकनदमिति।

§१०१. नन्वेकस्य नित्यानित्यत्वे विरोधादिदूषणमिति चेन्न। विरोधादेः पूर्ववत्परिहर्तव्यत्वात्। ततो न विरोधादिदूषणम्। एवं सामान्यविशेषात्मकं सकलं परैरभ्युपगंतव्यम्। घटत्ववत्, ततो न विरोधादिदूषणावकाशः।

§१०२. ननु वस्तुन्यनेकांतात्मकत्वस्यासंभवः, प्रमाणाभावादिति चेन्न। सर्वमनेकांतात्मकं तत्त्वात्, इत्यनुमानादनेकांतात्वकत्वस्य सिद्धेः।

§१०३. अथ सप्तभंगी प्रमाणं वा प्रमाणविषयो वा। न तावदाद्यः पक्षः। घटादेरपि प्रमाणत्वं स्यात्तस्य सप्तभंगात्मकत्वात्।

---

१. नत्वा ब। २. च कुंडलौ अ। ३. -शिष्टं ब। ४. नित्व एव दंड० ब।

द्वितीयपक्षे तु प्रमाणस्यापि प्रमेयत्वं स्यात्तस्यापि सप्तभंगात्मकत्वात्।

§१०४. ननु प्रमाणस्य प्रमेयत्वं स्यादिति यदुक्तं तदिष्टमेव तुलायां[1] प्रमाणप्रमेयव्यवहारादिति।

तिर्वणिविरचितायां प्रमेयकंठिकायां चतुर्थस्तबकः।

---

१. कुलायां अ।

अथ पंचमस्तबकः

§१०५. अनेकान्तात्मकं वस्तु सर्वं साक्षात्कुर्वन्नेव सर्वज्ञो नेश्वरः। तत्र प्रमाणाभावात्।

§१०६. ननु क्षित्यादिकम्[1]उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यं कार्यत्वात्। यद्यत्कार्यं तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यम्। यथा कुंभादिकार्यम्। कार्यं चेदं क्षित्यादिकम्। तस्मादुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यम्। न च कार्यत्वमसिद्धम्। तथाहि—क्षित्यादिकं कार्यम्। सावयवत्वात्। यत्सावयवं तत्कार्यम्। यथा हर्म्यादि। सावयवं चेदम्। तस्मात्कार्यम्।

§१०७. ननु सावयवत्वात्कार्यत्वं क्षित्यादेः प्रसाध्यते। तत्र किमिदं सावयवत्वं नाम सहावयवैर्वर्तमानत्वं, तैर्जन्यमानत्वं वा, सावयवमिति बुद्धिविषयत्वं वा। प्रथमपक्षे सामान्यादिना अनेकान्तो गोत्वादिसामान्यं हि सहावयवैर्वर्तते। न च कार्यम्। द्वितीयपक्षेऽप्यसिद्धो हेतुः। परमाण्वाद्यवयवानां प्रत्यक्षतोऽसिद्धौ क्षित्यादेस्तज्जन्यमानत्वस्याप्यसिद्धेः। प्रत्यक्षानुपलंभसाधनश्च कार्यकारणभावः द्व्यणुकं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणोपेतकारणारब्धं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानात्तत्प्रसिद्धिरित्यप्यसंगतम्। चक्रकप्रसंगात्। परमाणुप्रसिद्धौ हि क्षित्यादेर्जन्यमानत्वलक्षणसावयवत्व-

---

१. क्षित्यादिकं कार्यभेदं क्षित्यादिकं तस्मादुपादान० ब।

सिद्धिः। तत्सिद्धौ हि परमाणुप्रसिद्धिरिति महापरिमाणोप्रेतप्रशिथिलावयवकार्पासपिंडोपादानेनातिनिबिडावयवाल्पपरिमाणोपेतकार्पासपिंडेनानेकांतश्च । बलवत्पुरुषप्रयत्नप्रेरितहस्ताद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तिरवयवविभागात्पूर्वसंयोगविनाशान्महाकार्पासपिंडविनाशोऽल्पकार्पासपिंडोत्पादस्तु स्वारंभकावयवकर्मसंयोगविशेषवशादेव भवतीत्यपि विनाशोत्पादप्रक्रियोद्घोषणमात्रं प्रमाणतोऽप्रतीतेः। कार्पासद्रव्यं हि महापरिमाणपिंडाकारपरित्यागेनाल्पपरिमाणपिंडाकारतयोत्पद्यमानं प्रमाणतः प्रतीयते। आशूत्पत्तेर्भेदानवधारणात्तथाप्रतीतिरित्यसंगतम्। सकलभावानां क्षणिकत्वानुषंगात्[1]। सावयवमिति बुद्धिविषयत्वमप्यात्मादिनानैकांतिकम्। तस्याकार्यत्वेऽपि तत्प्रसिद्धेः। सावयवार्थसंयोगान्निरवयवत्वेऽप्यस्य तद्बुद्धिविषयत्वमित्यौपचारिकं चेत्तदसमंजसम्। तस्य निरवयत्वे व्यापित्वविरोधात्। परमाणुवत्। तदपि ह्यौपचारिकमेव स्यात्। तदेवं सावयवत्वसिद्धेः। कथं क्षित्यादेः कार्यत्वसिद्धिः।

§१०८. किंच पक्षतावच्छेदकं क्षित्यादिकमन्यद्वा। नाद्यः। क्षितित्वांकुरत्वाम्बोधित्वादिपक्षतावच्छेदकनि[2]रूपकनि[3]रूपणेनैव पुरुषायुषो गतत्वात्पक्षतावच्छेदकधर्माणामनन्तत्वात्। अथवा क्षितित्वादिकस्य न पक्षतावच्छेदकत्वमनुगतत्वात्। नापि द्वितीयः। तस्यासंभवात्। न च साध्यमप्युपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमतास्मदादिनासिद्धसाधनात्[4]।

---

१. -कत्वानुप्रसंगात् अ। २. पक्षतानिरूपक- ब। ३. -कानिरूपेण- अ। ४. साधनानि अ।

§१०९. किंचैवं निरुपादानस्य ध्वंसस्य कथं सकर्तृकत्वं स्यादतीन्द्रियोपादानस्य शब्दस्य कथमस्मदादिकर्तृकता स्यादुपादानादिपदेनोपायमात्रमेव विवक्षितमिति चेन्न। अस्मदादिनैव सिद्धसाधनात्। अस्मदादीनां सकलकार्यकैश्चिदुपायाभिज्ञत्वात्। अपि च न परोक्षज्ञानादिमज्जन्यत्वं सकर्तृकत्वम्। यागस्य[1] भवदकर्तृकत्वापातात्। नहि तत्रापरोक्षज्ञानं चिकीर्षादिजनकं किंतु शाब्दम्। न च कर्तृत्वमेवास्ति, व्यवहारविरोधात्। ज्ञानमेव विवक्षितमिति चेदेवं हि किं ज्ञानमादाय साध्यपर्यवसानं स्यात्। न तावत्प्रत्यक्षं [2]नियामकाभावात्। नापरं तत् एव। न च[3] प्रत्यक्षादिविजातीयं ज्ञानपंचममेवेश्वरेऽङ्गीकार्यमपसिद्धान्तापातात्।

§११०. किंच प्रत्यक्षत्वादिजातीनां कारणविशेष्यप्रयोज्यतया कथं नित्ये वृत्तिसंभावनापि यावद्विशेषबाधात्[4] ज्ञानमपि सिध्येत्। एवमिच्छाप्रयत्नावपि। किं तत्कार्यत्वं कृतिजन्यत्वं वा, प्रागभावप्रतियोगित्वं वा, उत्पत्तिमत्त्वं वा, पूर्वकालासंबंधित्वे सत्युत्तरकालसंबंधित्वं वा। न तावदाद्यः पक्षः। स्वरूपासिद्धत्वात्। नापि द्वितीयः। ध्वंसेन व्यभिचारात्। नैव तृतीयोऽनिर्वचनात्। स्वसमानकालप्रतियोगिध्वंसानधिकरणसमयसंबन्ध उत्पत्तिरिति चेन्न। चरमध्वंसोत्पत्यव्यापनात्। तस्यापि चोत्पत्तिमत्तया सकर्तृकत्वाङ्गीकारात्। न चान्योन्यर्थविशेषणात्कथं वा कर्त्रा सहकारित्वस्य व्याप्तिरपि। कर्ता हि कारणविशेषः। कार्यत्वं च कार्य-

---

१. -या भवद ब। २. -क भावात् ब। ३. एव च ब।
४. विशेषाबाधात् अ।

मात्रवृत्तिसामान्यम्। न च तत्र कारणविशेषापेक्षा किंतु कारणत्वेन।

§१११. तथा च कार्यात्कारणमात्रमायाति न तु तद्विशेषः कर्तापि। न च सामान्येनापि रूपेण कर्ता तावत्सिद्ध इति वाच्यम्। सामान्यतो यत्किंचित् कारणमादायोपपत्तौ कर्तृत्वादर्शनात्। किं च घटि[1] कृति साध्येष्टसाधनताज्ञानं चिकीर्षाद्वारा हेतुः। तच्च न प्रत्यक्षत्वं चिकीर्षाविषयेनागतेन्द्रियस्य सामर्थ्यात्। किंत्वनुमितिरूपम्। तथा च साध्यविकलो दृष्टान्तः। साध्याप्रसिद्धिर्वा दोषः।

§११२. अथाशरीरसर्वज्ञनित्यज्ञानादिमान् कर्ता विवक्षितः। घटादौ च कार्यत्वस्य सशरीरासर्वज्ञानित्यज्ञानादिमत्कर्तृसहचारदर्शनात्। विशेषविरुद्धत्वमिति।

§११३. ननु ज्ञानत्वनित्यत्वयोः कर्तृत्वाशरीरत्वयोः परस्परविरुद्धत्वेनैकधर्मसमावेशात्कथं नित्यज्ञानादिमत्कर्तृसिद्धिः। किं च घटादौ कृतिसाध्यता हस्तादिद्वारैव गृहीता। न तु साक्षात्। न च पितृपुत्रयोरेकघटसाधनत्वमिव प्रयत्नहस्तादिव्यापारयोस्साक्षात्साधनत्वं वाच्यम्। घटार्थं हस्तादिव्यापारयोस्साक्षात्साधनत्वं वाच्यम्। घटार्थं हस्तादिना व्याप्रियमाणकुलालसमीपस्थस्य हस्तादिव्यापारशून्यस्यापि तत्र कर्तृतापत्तेः। न च हस्तादिव्यापारवत्ताशरीरस्य संभवति। अन्यादृशि[2] च साध्यता न दृष्टा शरीरतद्व्यापारौ [3]चाङ्कुरे बाधिताविति कर्तुरपि बाध एव।

१. घटि ब। २. अन्यादृशी ल। ३. चांतरे अ।

§११४. किंच कर्ता शरीर्येव, ज्ञानमनित्यमेव, बुद्धिरिच्छाद्वारैव, इच्छा कृतिद्वारैव हेतुरित्यादिप्राथमिकबहुव्याप्तिप्रत्यक्षविरोधान्नाशरीरनित्यज्ञानादिकर्तृसिद्धिः ।

§११५. ननु क्षित्यादिकर्ता सशरीरो वा अशरीरो वा । सशरीरश्चेत्तर्हि तच्छरीरं जन्यमजन्यं वा । 'जन्यं चेदीश्वरेण वा महेश्वरान्तरेण वा । यदीश्वरेण तदाशरीरेण वा सशरीरेण वा । सशरीरेण चेत्तर्हि तच्छरीरं जन्यमजन्यं वा'[१] इत्यादिविकल्पस्तदवस्थ एव । तथा चानवस्था । अशरीरेण चेन्न, विरोधात् । महेश्वरान्तरेण चेन्न, महेश्वरान्तरस्यानंगीकारात् । अंगीकारेण वा "**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो-बाहुरुतविश्वतः पात् । संबाहुभ्यां धमति[२] संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ।**" इत्येकत्वप्रतिपादकायाः श्रुतेरप्रमाण्यप्रसंगः । अथाजन्यं तदिति चेत् क्षित्यादेरप्यजन्यत्वं स्यात् ।

§११६. किंचेश्वरशरीरं व्यापकं वाव्यापकं वा । नाद्यम् । व्यापाराघटनात्[३] । व्यापारद्वारा शरीरस्य कारणत्वदर्शनात् । नापि द्वितीयः । देशान्तरे कार्यानुदयप्रसंगात् । तत्र व्यवहिते महेश्वरशरीरस्य[४] व्यापाराघटनात् । अथाशरीरश्चेन्न । अशरीरस्य कर्तृताऽघटनात्[५] ।

§११७. ननु कर्तृत्वमुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं न तु शरीरवत्त्वमपीति[६] चेत्तर्हि घटादावपि सशरीरस्य कारणता

---

१. अ प्रतौ ' ' अन्तर्गतः पाठो नास्ति । २. नमति ब ।
३. रघट० अ । ४. महेश्वरस्य ब । ५. कर्तृत्वा- ब ।
६. शरीरत्वं ब ।

न स्यादिति चेन्न । प्रत्यक्षबाधात् । न चान्वयव्यतिरेकाभ्यां घटादिकार्यं प्रति शरीरस्य कारणत्वं क्लृप्तम् । तथा तन्वादिकार्यं प्रत्यपि शरीरस्य कारणत्वमिति वाच्यम् दृष्टान्तदृष्टस्य यावद्धर्मस्य दार्ष्टान्तिकेऽसंभवात् । संभवे वा शब्दोऽनित्यः । कृतकत्वात् । घटवदिति । घटदृष्टान्त-बलाच्छब्देऽपि रूपत्वं सिध्येत् । न चैवम् । प्रतीतिविरो-धात् । तस्मादुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमानेव कारणं तन्वादौ न तु शरीरमपीति ।

§११८. अत्रोच्यते । रूपवत्वकृतकत्वयोर्व्याप्तेरभावान्न शब्दे रूप-वत्वं क्षित्यादौ तु शरीरजन्यत्वमपि स्यात् । यद्यत्कार्यं तत्तच्छरीरजन्यमिति व्याप्तिः । न च पक्षे व्यभिचार इति वाच्यम् । क्षित्यादेश्शरीरजन्यत्वेऽद्यापि विवादात् । न हि खलु वादस्थले व्यभिचारो दर्शनीयः, किन्तु तदतिरिक्ते । न चायं न्यायः शब्देऽपि समान इति वाच्यम् । पक्षातिरिक्ते फूत्कारादिवायौ व्यभिचारात् । ततस्तयोर्न व्याप्तिरिति वाच्यम् ।

§११९. न च चेष्टायां व्यभिचारात्तयोर्न व्याप्तिरिति वाच्यम् । चेष्टां प्रत्यपि शरीरस्य कारणत्वात् । चेष्टातिरिक्ते हि कार्ये व्यापारद्वारा शरीरस्य कारणत्वं चेष्टारूपकार्ये तु शरीरस्य साक्षात् कारणत्वं न तु व्यापारद्वारा, अनवस्थानात् । ततः पक्षातिरिक्ते अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शरीरे कारणत्वस्य क्लृप्तत्वात् । प्रकृते क्षित्यादावपि शरीरं कारणमस्तु बाधकाभावात् ।

§१२०. अथ महेशस्य शरीरकल्पने गौरवमेव बाधकमिति चेत्तर्हि लाघवात्कृतिमज्जन्यमिति स्यात् । न चापरोक्षज्ञानचिकी-

र्षाभ्यां विना कृतेरनुत्पत्तिरिति वाच्यम् । महेश्वरकृतेर्नित्य त्वेनाभिमतत्वात् ।

§१२१. ननु उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वं कर्तृत्वं न केवलं कृतिमत्वं कर्तृत्वमिति यदि तदा शरीरोपादानगोचरा-परोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्वं कर्तृत्वं किं न स्यात् । घटादौ तादृशकर्तृत्वस्य दर्शनात् ।

§१२२. किंच क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यं शरीराजन्यत्वात्, गगनवत् । तथा च नेश्वरः कर्ता, अशरीरत्वात् । मुक्तात्मवदिति चेन्न । सिद्ध(द्ध्य)सिद्धिभ्यां व्याघातात् । अथ परोक्षया परेष्ट्या सिद्धो भगवान्निषिध्यते, इति चेत्तर्हि परेष्टिः किं प्रमाणम-प्रमाणं वा । यदि प्रमाणं तर्हि तया बाध्यत्वादनुत्थानं विपरीतानुमानस्य । अथाप्रमाणं, प्रमाणं विना प्रमेयस्या-सिद्धिः । किमनेनोपन्यासेन । अथ प्रमाणं परेष्टिः । तेन विषयीकृतस्य महेश्वरस्य निषेधः संभवति । शुक्तिरूप्यस्य निषेधो यथा ।

§१२३. किंचेश्वरः प्रयोजनं विना कथं प्रवर्तते सुखस्याभावात् । [1]धर्माधर्माभावेन निर्दुःखत्वात् । करुणतया प्रवर्तत इति चेत्तर्हि परसुख[2]दुःखप्रापणप्रहाणे प्रयोजने । तथा च स्वर्गिण-मेव सृजेत् ।

§१२४. धर्माधर्मपरतन्त्रत्वात् तदनुरूपफलं प्रापयति इति चेत्तर्ह्या-वश्यकत्वात्कर्मनिर्मितमेव जगद्वैचित्र्यमस्तु किमीश्वरेण ।

१. धर्माभावेन ब । २. परदुःख० अ ।

कर्मनिरपेक्षत्वे च सर्गप्रलयौ सदा स्यातां ज्ञानादीनां नित्यत्वात् । ततो न कर्तृत्वं परमेश्वरस्य ।

§१२५. तथा न तस्य सर्वज्ञत्वमपि । तथाहि—परमेश्वरस्सर्वज्ञो न भवति । चिकीर्षादिमत्वात् [1]पृथ्वीश्वरवत् ।

§१२६. अथ सर्वज्ञः कोऽसाविति चेत् । कश्चित् पुरुषः सकलपदार्थ-साक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंध-[2]प्रत्ययत्वात् । यस्सकलपदार्थसाक्षात्कारी न भवति तद्ग्रहण-स्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबंधप्रत्ययो न भवति । यथा-स्मदादिरित्यनुमानात्सिद्धो यस्स सर्वज्ञो नान्यः परमेश्व-रादिः । यद्वा परमाण्वादयोऽतींद्रियार्थाः कस्यचित् सामान्य-प्रत्यासत्यजन्ययोगजधर्माजन्यजन्यप्रत्यक्षज्ञानविषयाः अनु-मितिविषयत्वादस्मदादिवदित्यनुमानात् सर्वज्ञसिद्धिरिति सर्वं समंजसम् ।

श्रीशांतिवर्णिविरचितायां प्रमेयकण्ठिकायां पंचमस्तबकः ।

१. पृथ्वीशरीरवत् अ । २. प्रत्ययसत्त्वात् अ । ३. ति न तद्ग्रहण ब । ४. -दनलवद अ ।

प्रमेयकण्ठिका जीयात्प्रसिद्धानेकसद्गुणा ।
लसन्मार्तण्डसाम्राज्ययौवराज्यस्य कंठिका ॥

[1]सन्तीष्कलंकं (?) जनयन्ति तर्के भाभाति तर्को मम तर्करत्ने[1] ।
[2]तेनानिशं ब्रह्मकृतः कलंकश्चंद्रस्य किं भूषणकारणं न ॥
अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञान[3]सदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥
ततः परं पुनर्वस्तुधर्मो जात्यादिभिर्यया[4] ।
बुद्ध्यावसीयते[5] सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता ॥

प्रमेयकण्ठिका समाप्ता ।



१. संतिष्कलंकं जनयंतु बाबाधितर्को मम तर्करत्ने अ ।
२. केनानिशम् अ । ३. विज्ञाने ब । ४. मयो ब ।
५. ब प्रति में इसके बाद का श्लोकांश नहीं है ।

प्रमेयकण्ठिका-शब्दानुक्रम